श्रीजिनदत्तसूरिप्राचीनपुस्तकोद्धारफण्ड (सुरत) ग्रन्थाङ्क-६१

अर्हम् ।

श्रीखरतरगच्छपर नवाङ्गवृत्तिकार श्रीजिनअभयदेवसूरिपट्टालङ्कार कविचक्रवर्ति
श्रीमज्जिनवल्लभसूरिविरचितः—

श्रीसङ्घपट्टकः ।

श्रीसाधुकीर्तिगणि निर्मितावचूर्णिविभूषितः, लक्ष्मीसेनरचितटीकया
समलङ्कृतः हर्षराज उपाध्यायविहित लघुवृत्त्या सनाथीकृतश्च ।



श्रीमज्जिनकृपाचन्द्रसूरीश्वरशिष्य उपाध्यायपदालङ्कृत मुनिश्रीसुखसागरोप
देशात् श्रेष्ठिवर्य्य बाबू प्रसन्नचन्द्र बोथरा, बाबू गोविन्दचन्द्र भूरा तथा
महासमुद श्रीसङ्घ इत्यादि श्रावकवर्यैर्विहितेन द्रव्यसाहाय्येन,

*

प्रकाशक :
श्रीजिनदत्तसूरिज्ञानभण्डार,
मु॰ सुरत

वि॰ सं॰ २००९] भेट॰ [प्रति ५००

पुस्तक प्राप्तिस्थान—
श्री जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार,
ठि. गोपीपुरा ओसवाल मोहल्ला
मु. सूरत (गुजरात)।

श्री सङ्घपट्टक के द्रव्य साहाय्यक महाशयों की शुभ नामावली:—

४५०) बाबू प्रसन्नचन्दजी बोथरा ... .. कलकत्ता।

२५०) बाबू गोविन्दचन्दजी सुरा ... . कलकत्ता।

२५०) महासमुंद श्रीसङ्घ के ज्ञानखाते से—
हस्ते—हनुतमलजी पींचा ... . महासमुंद।

१०१) स्व० गुलाबचन्दजी सेठिया स्मरणार्थ—
तत्पुत्र तेजमलजी सेठिया... ... .. बालाघाट।

१०१) श्रीयुत् सुखलालजी अमकरणजी चोपड़ा .. राजनांदगांव।

१५१) खुशालचंद लुणावत धर्मपत्नी सौभाग्यवती मंगुबाई नरसिंहपुर।
२१) एक बाई की तरफ से नरसिंहपुर।

२०१) श्री छोटमलजि मनमालीजि की सौ० चंपाबाइ मु० नागपुर
१००) सेठ सोभागमलजि तथा महेन्द्रकुमारजि बाठा मु० हिंगणघाट

मुद्रक —
शाह गुलाबचंद लल्लुभाई
श्री महोदय प्री. प्रेस — भावनगर।

—ः नि वे द नः—



संघपट्टक, जो आप के करकमलों में विराजित है, के-रचयिता आचार्य श्री जिन वल्लभसूरिजी महाराज हैं। उनका अस्तित्व समय वि सं ११२५-६७ है, जैसा कि-श्री जिनचंद्रसूरि रचित संवेगरंगशाला से सिद्ध है। सूरिजीने उपर्युक्त ग्रन्थ का संशोधन वि सं ११२५ में किया था। इस संघपट्टक की रचना आकस्मिक घटना नहीं पर एक सप्रमाणित सिद्धान्त पर आधृत है।

श्री जिनवल्लभसूरिजी के जीवन से ज्ञात होता है कि, उनका चित्रकूट-चित्तौड़ में अच्छा प्रभाव था। आपने वहाँ पर, अनेक प्रकार के कष्ट व यातनाएँ सह कर, जैन शासन की जो सेवा की है, वह उल्लेखनीय है। जैन संस्कृति के इतिहास में इन सेवाओं का बहुत बड़ा महत्त्व है। यही कारण है कि, चित्तौड़ का श्री संघ सूरिजी का परम भक्त और आज्ञा नुवर्ती था। आप के सदुपदेश से, वहाँ के श्रावकोंने शासननायक महावीरस्वामी का नवीन विधिचैत्य निर्माण करवाया था। सूरिजी द्वारा ही इस की प्रतिष्ठा का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ था और संघ व्यवस्था सूचक प्रस्तुत "संघपट्टक" मूल, (४० श्लोक) उपर्युक्त विधिचैत्य के मुख्य द्वार पर पाषाण-शिला पर खुदवा कर, लगाया गया था, जैसा कि अंचलगच्छीय श्री महेन्द्रसूरि प्रणीत 'शतपदी' से सिद्ध होता है।

जैन साहित्य में, इस ग्रन्थ का स्थान कितना आदरणीय समझा जाता है, इस का अध्ययन कितने व्यापक रूप से होता आया है इस का ज्ञान हमें, उन वृत्तियों से होता है, जो समय समय पर विभिन्न आचार्य, मुनि और जैन गृहस्थों द्वारा इस पर रची गयीं, टीकाओं से विदित होता है कि मध्यकालीन जैन संस्कृति और साहित्य में यही एक ऐसी मूल्यवान् कृति है, जिस पर प्रकाण्ड पंडितों को भाष्य लिखना पड़ा। यह आकर्षण व्यक्ति मूलक नहीं पर गुणमूलक है।

अद्यावधि रचित वृत्तियों की संख्या आठ तो ज्ञात हो चुकी है। इन का उल्लेख प्रो

१ जैसलमेर जैन भण्डार सूची पृ. ११।

हरि दामोदर वेलणकर गुम्फित "जिनरत्नकोश" में हुआ है। वृत्तियों में सर्वश्रेष्ठ व प्राचीन "बृहद्वृत्ति" है, जिसका प्रणयन प्रकाण्ड पंडित और आचार्य श्रीजिनपति सूरिजी म. द्वारा हुआ। यह वृत्ति क्या है? एक प्रकार से महाभाष्य है। इस में आचार्य महाराजने अपने सैद्धान्तिक ज्ञानबल से तर्कयुक्त शैली में, सुन्दर रूप से मूल ग्रन्थगत विषय का समर्थन किया है।

प्रस्तुत संस्करण तैयार करने में निम्न हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया है, जिन का परिचय इस प्रकार है—

प्रति परिचय—

(१) A संघपट्टक-अवचूरि, साधुकीर्ति गणि रचित, रचनाकाल सं १६१९।

यह "प्रति" मुनि कान्तिसागरजी के निजी संग्रह की है। पत्र ३, त्रिपाठ, जिस का चित्र इस ग्रन्थ में दिया जा रहा है। इस की लेखन प्रशस्ति इस प्रकार है—

"सं १८५१ वर्षे कार्तिक कृष्णपक्षे पञ्चम्यां कर्मवाट्यां ॥पं॥ भीमविजय मुनिना लिलेखि श्री फलवर्द्धिकायां चतुर्मासी चक्रे ॥ श्रीरस्तु ॥

B संघपट्टक-अवचूरि,

यह "प्रति" बाबू पूर्णचंदजी नाहर के संग्रह से उनके सुयोग्य-पुत्र राष्ट्रसेवी श्री विजयसिंहजी नाहर की उदारता से प्राप्त हुई थी। वि सं २००३-४ के हमारे कलकत्ता चतुर्मास के समय इस की प्रतिलिपि करली गयी थी। प्रति सुंदर सुवाच्य व प्रायः शुद्ध है।

(२) A संघपट्टक-टीका, कर्ता, लक्ष्मीसेन, रचनाकाल सं १५१३,

इसकी "प्रति" हमें रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बेंगाल के

---

१ प्रकाशक; श्रावक हीरालाल हंसराज जामनगर सं १९६३ बृहद्वृत्ति का यह भाषान्तर पठनीय है और आज की स्थिति को देखते हुए विचारणीय भी।

२ आचार्य महाराज न केवल स्वयं अद्वितीय प्रतिभासम्पन्न विद्वान् ही थे अपितु विद्वत्परम्परा के निर्माता भी थे। आप के अधिकतर शिष्य समकोटि के ग्रन्थ रचयिता व प्रखर पाण्डित्यपूर्ण विचारपरम्परा के स्रष्टा थे।

अन्तर्गत " ओरियण्टल लायब्रेरी " से प्राप्त हुई थी। सापेक्षतः यह प्राचीन है।

अन्तिम इस प्रकार है—

॥ इति श्री संघपट्टकस्य टीका परिपूर्णा, लिखिता च विनयसोमेन, स्ववाचनार्थम् ॥

B संघपट्टक-टीका, यह " प्रति " अनुयोगाचार्य स्व० श्री केशरमुनिजी गणि के शिष्य मुनिवर च बुद्धिमुनिजी गणिने प्रतिलिपि भेजी थी।

(३) A संघपट्टक-लघुवृत्ति, कर्त्ता-हर्षराज उपाध्याय,

यह " प्रति " हमें श्री अगरचंदजी नाहटा द्वारा प्राप्त हुई थी। मूल प्रति " भांडारकर ऑरियण्टल रीसर्च इन्स्टिटयूट "-पूना में सुरक्षित है। पत्र संख्या २७, प्रति प्राचीन व पंच पाठ है। इस की लिपि बहुत सुन्दर और सुपाठ्य है। देखिये श्लोक।

B संघपट्टक-लघुवृत्ति, यह " प्रति " अनुयोगाचार्य स्व० श्री केशरमुनिजी गणि के शिष्य मुनिवर च बुद्धिमुनिजी गणिने इस की प्रतिलिपि भिजवाई थी। मूल प्रति के लेखन प्रशस्ति इस प्रकार है—

संवत् १६०८ वर्षे माह सुदि ५ दिने शनिवारे श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनमाणिक्य सूरिविजयराज्ये श्रीविक्रमनगरे गणधर-चोपडागोत्रे सा० देवराजस्तत्पुत्र सा० जगसिंह तत्पु० सा० कम्मा भा० श्रा० कौतिकदेव्याः पु० रत्न सा० रायपाल सुरताण संसारचंद प्रमुखपरिवारयुतेन सा० रायपालेन ज्ञानपञ्चमीतपस उद्यापने श्रीसङ्घपट्टकलघुवृत्तिविर्विहरा पिता श्रीधनराजोपाध्यायानां। वाच्यमाना चिरं नन्दतु ॥ शुभ कल्याणमस्तु। श्रीधनराजो पाध्यायशिष्यैः प्रसादीकृता प्रतिरियं वा० जयसुन्दरगणेः। शुभं भवतु लेखकपाठकयोः। कल्याणमस्तु। श्रीः।

आभार—

सर्वप्रथम हम परमपूज्य गुरुवर्य्य उपाध्याय पद विभूषित १ ०८ सुखसागरजी महाराज सा के प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिनके सतत् श्रम से यह

---

१ वं ९ १-२० ४ कलकत्ता में।

संस्करण तैयार हो सका। इस में प्रयुक्त प्रतियों के प्रेषण में जिन महानुभावों (नाम ऊपर प्रासंगिक रूप से आ चुके हैं) सहायता कर हमारा कार्य सरल किया, उनको, व पूज्य गुरुदेव के सदुपदेश से भिन्न भिन्न श्रावकोंने, ज्ञानवृद्धयर्थ आर्थिक मदद की, उन सब को धन्यवाद देना आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य कर्तव्य समझते हैं। श्री जिनवल्लभ-सूरिजी महाराज का जो चित्र (काष्ठपट्टिका) प्रकाशित किया जा रहा है, उसका ब्लोक बीकानेर से भँवरलालजी नाहटा द्वारा प्राप्त हुआ था। तदर्थ वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

इस के शोधन में दृष्टिदोष से या तथाकथित कारण से यदि स्खलना रह गई हों तो पाठक सहानुभूतिपूर्वक सुझाने का कष्ट करेंगे।

सिवनी, (सी० पी०)
मा० शु ७, सं २००९

शुभाकांक्षी,
मुनि मंगलसागर

समर्पण

अगम–युगप्रधान–भट्टारक–१००८

श्री जिनकृपाचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

परम गुरुवर्य्य

के

करकमलों में श्रद्धापूर्वक

समर्पित

मुनि मंगलसागर

उपोद्घात

सुगपवरागमपीऊस-पाणपीणियमणा कया भव्वा । जेण जिणवल्लहेण, गुरुणा तं सम्महा वंदे ॥

जिस समय चैत्यवासी आचार्यगण शिथिलाचार को प्रधानता देकर गणधरप्रणीत सैद्धान्तिक आचरणों की अवहेलना कर रहे थे, भगवद्धाम से ही चैत्यों में निवास कर रहे थे, महन्तों की तरह चैत्यों के सर्वाधिकारी बन कर वैभव साम्राज्य में आनन्द-उत्सव मना रहे थे, उस समय में इस चैत्यवास की दुर्व्यवस्था से व्यथित होकर सर्वप्रथम आचार्य श्री हरिभद्रसूरिने इस दुराचार का उग्र विरोध किया था पर इसका कोई ठोस परिणाम हुआ हो कहा नहीं जा सकता ।

तदनन्तर प्रमुखरूप से उग्र विरोध करनेवाले आचार्य श्री जिनेश्वरसूरि हुए, जिन्होंने चैत्यवासियों की प्रमुख नगरी अणहिल्लपुरपत्तन में जाकर, महाराजा श्री दुर्लभराज के समक्ष चैत्यवासि आचार्यों के सन्मुख ही सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं को सुदृढ़ प्रस्थापित कर सुविहित पक्ष [खरतर पक्ष] की स्थापना की थी । सुविहित पक्षीय आचरणों के प्रसारक और चैत्यवासी उन्मार्गगामिता के निरोधक रूप में ही इस काव्यरचना हुई थी ।

काव्यकार-इस काव्य के प्रणेता श्रीजिनवल्लभगणि हैं । यह इस काव्य १८वीं कारिका से स्पष्ट है—

विद्याविद्गुणगौरवस्मरमनाशौर्द्र मुनीन्द्रेण, सम्यग्भावमुखर्मि जिनं वरवपुः श्रीवैनेयिकामेश्वरम् ।
यस्मे धर्म्यमनेकधामृतरसैः श्लोकैर्मे चैनेष्ठितं, तम्भारि विदुषां सदा सुखपदाऽनेकान्तपद्मप्रदम् ॥

॥ १८ ॥ "जिनवल्लभेन गणिनेदं चक्रे"

ये जिनवल्लभ गणि कौन थे ? कहां के थे ? किनके शिष्य थे ? इत्यादि विषयों का निर्णय प्राप्त एवं अन्यत्र प्रमाणों से किया जा सकता है ।

श्रीजिनपतिसूरि शिष्य श्रीजिनपालोपाध्यायप्रणीत' खरतरगच्छबृहद् गुर्वावली में और श्रीसुमतिगणिविरचित गणधरसार्द्धशतक की बृहद्वृत्ति में इस प्रकार उल्लेख मिलता है ।

जिनवल्लभ आसिका दुर्गनिवासी कूर्चपुरीय श्रीजिनेश्वराचार्य के शिष्य थे । सिद्धान्ताध्ययन के लिये पत्तन-स्थित आचार्यप्रवर श्रीअभयदेवसूरि के पास गये थे । आगमाध्ययनोपरान्त सुविहित आचरणों से प्रभावित होकर, गुरु जिनेश्वराचार्य की आज्ञा प्राप्त कर, चैत्यवास का त्याग कर, उन्होंने अभयदेवाचार्य के पास उपसम्पदा ग्रहण की । इन्हीं को अभयदेवाचार्य के निदेश प्रसन्नचन्द्राचार्य के शिष्य श्री देवभद्राचार्यने सं ११६७ चित्रकूट में अभयदेवाचार्य के पद पर अभिषिक्त कर जिनवल्लभसूरि नाम उद्घोषित किया और सं ११६७ के ही कार्तिक कृष्णा द्वादशी के दिन उनका स्वर्गवास हुआ ।

इन तीनों प्रसंगों की पुष्टि अन्य खरतरगच्छीय पट्टावलियों से भी होती है ।

१ जिनवल्लभ आसिका दुर्गनिवासी चैत्यवासी श्रीजिनेश्वराचार्य के शिष्य थे ।

२. श्रीअभयदेवाचार्य के पास सिद्धान्तों के अध्ययन के लिये ये गये थे और पीछे से आचार्यश्री के पास ही उपसम्पदा ग्रहण की थी अर्थात् अभयदेव के ही शिष्य बने थे।

३ श्रीदेवभद्राचार्यने ही इन को अभयदेवाचार्य के पट्ट पर स्थापित किया था।

अन्यत्र प्रमाणों में स्वरचित (जिनवल्लभरचित) प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतक काव्य जो उपसम्पदा से पूर्व ही रचा गया था उसमें ये श्रीजिनेश्वराचार्य को '[1]"सद्गुरवो जिनेश्वरसूरयः' सम्बोधन से और आचार्य श्रीअभयदेव को 'सद्गुरवोऽत्र जाग्रज्जगतीप्रभुताः विभुताः श्रीमदभयदेवाचार्याः' सम्बोधन से व्यक्त करते हैं। इस से यह तो निश्चित हो ही जाता है कि जिनेश्वराचार्य इनके मूल दीक्षागुरु थे और सैद्धान्तिक (विद्यागुरु) गुरु थे आचार्य अभयदेव।

(२) इन्हीं श्रीजिनवल्लभगणिरचित सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार प्रकरण (सार्धशतक) पर वृहद् गच्छीय श्रीधनेश्वराचार्यने सं ११७१ में टीका की रचना की है। उसमें १५१ वें पद्य की व्याख्या करते वे लिखते हैं कि—

"जिनवल्लभगणिरिति" जिनवल्लभगणिनामकेन मतिमता सकलार्थसंग्राहिस्थानाङ्गाद्यङ्गोपाङ्गपञ्चाशकादिशास्त्रविचारसारपरमार्थविद्युत्पन्नविशदयशःकीर्तिना श्रीमदभयदेवसूरीणां शिष्येण लिखितं कर्मप्रकृत्यादिगम्भीरशास्त्रेभ्यः समुद्धृत्य इत्थं जिनवल्लभगणिलिखितम्।"

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट प्रतीत है कि जिनवल्लभगणि नवाङ्गीटीकाकारक आचार्य अभयदेवसूरि के शिष्य थे।

तदुपरान्त सुविहितपक्षीय जिनेश्वराचार्य के पट्टधर आचार्यप्रवर श्रीजिनचन्द्रसूरि रचित संवेगरंगशाला की पुष्पिका "इति श्रीजिनचन्द्रसूरिकृता तद्विनेय श्रीप्रसन्नचन्द्रसूरि समभ्यर्थितेन गुणचन्द्रगणि [ना] प्रतिसंस्कृता जिनवल्लभगणिना च संशोधिता संवेगरंगशालाऽऽराधना समाप्ता।" से यह सूचनावस्तु प्रकाश में आती है कि—गुणचन्द्र गणि जो आचार्य बनने पर देवभद्राचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए, उनने संवेगरंगशाला—जिसकी रचना ११२५ में हुई थी—उसका संस्कार किया और श्रीजिनवल्लभ गणिने उसका संशोधन किया। इस से भी यही सिद्ध होता है कि, वि सं ११२५ के पूर्व ही श्रीजिनवल्लभने अभयदेवाचार्य के पास उपसम्पदा ग्रहण करली थी।

श्रीजिनवल्लभ उपसम्पदा पूर्व गणि नहीं थे यह बात वे—उपसम्पदा पूर्व रचित उनके जो दो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। उनकी निम्नलिखित पङ्क्तियों से प्रतीत होता है—प्रथम कृति पार्श्वनाथस्तोत्र पद्य ११ [आदि—नमस्याद्यानेकार्थविषयविचारस्तोत्रमहीनमद्] में "मया प्रथमभक्तप्रसाद्" कह कर अपना नाम केवल

---

१ "कः स्यादम्भसि वाचिवाचकपदं? का सौरिसंख्यायके?,
कोपाश्च(र्थ) प्राह हरः प्रयोगविदुषी क? सम्बोधने स्यात् ??।
मूर्ते वाच्यतिरोऽत्र? दुर्धरतरः का सुभाखेऽम्भोनिधेः ?
सूरि श्रीजिनवल्लभस्तुतिरियं कीदृग्विधा के सताम्? ॥१५९॥ सद्गुरवो जिनेश्वरसूरयः"

२ "कीदृक् चातुरवाचिकः? कः भवतो भीरो मम प्रीतये?, नानाशास्त्रविचारसार वद् कस्य एकान्विता विद्वज्जनाः?।
वाणी कि सुरविद्विषामिति? भूमि तं व्याचष्टे वा के सताम्? के वा सद्गुरवोऽत्र जाग्रज्जगतीप्रभुताः विभुताः?॥१५८॥
"श्रीमदभयदेवाचार्याः"

३ नमस्यादृश्यति शिवसे प्रथमभक्त्यासाद् कौतुकस्य मद्। विविधार्थस्मयमयार्थविनयपदान्यानुपस्थिते मया ॥११॥

'जिनवल्लभ सूचित करते हैं। और इसी प्रकार प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतककाव्य में भी 'जिनवल्लभेन' पद से भी यही सूचित करते हैं। अतः उपसम्पदा पश्चात् ही आचार्य अभयदेवने 'गणि' पद प्रदान किया हो ऐसा प्रतीत होता है।

इनके अलावा इन्हीं के पट्टधर युगप्रधान श्रीजिनदत्तसूरि स्वरचित गणधरसार्द्धशतक में ५ गाथाओं से 'सूरिजिनवल्लहो' की स्तुति करते हैं तथा अपने प्रणीत समस्त ग्रन्थों में 'जिनवल्लभसूरि को नमस्कार एवं उनकी स्तुति तो श्रद्धापूर्वक करते ही हैं।

अतः उपरि उल्लिखित बाह्य एवं अन्तरङ्ग प्रमाणों से यह निश्चित है कि जिनवल्लभ गणि सुविहित [खरतरगच्छीय] श्रीअभयदेवसूरि के शिष्य एवं पट्टधर थे।

ग्रन्थरचना।

कविवर १२वीं सदी के उद्भट विद्वानों में से एक थे। इनका अलङ्कारशास्त्र छन्दशास्त्र व्याकरण दर्शन ज्योतिष और सैद्धान्तिक विषयों पर एकाधिपत्य था। इन्होंने अपने जीवनकाल में विविध विषयों पर सैकड़ों ग्रन्थों की रचना की थी किन्तु दैव दुर्विपाक से बहुत से अमूल्य ग्रन्थ नष्ट हो गए। और इस समय इस समय इनके केवल ४३ ग्रन्थ ही प्राप्त होते हैं। उपलब्ध ग्रन्थों की तालिका निम्न है—

१ सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार प्रकरण (सार्द्धशतक), २ आगमिकवस्तुविचारसार प्रकरण (षडशीति), ३ पिण्डविशुद्धि प्रकरण ४ श्रावकव्रतकुलक ५ धर्मशिक्षा प्रकरण ६ संघपट्टक ७ पौषधविधि प्रकरण, ८ प्रतिक्रमण समाचारी प्रा पद्य ४० ९ ... (... ...) १० प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतकाव्यम् ११ शृङ्गारशतक (अनुपलब्ध) १२ स्वप्नाष्टकविचार (अनुपलब्ध) १३ अष्टसप्तति (अनुपलब्ध) १४ सर्वजीवशरीरावगाहना स्तव प्रा पा ... १५ ... प्रा पा.
१६-२० कल्याणकादि चरित्र पञ्चक सं ... २१ वीरचरित्र (...) प्रा पा १५ २२ भावारिवारण स्तोत्र पा ३ २३ लघु अजितशान्तिस्तव (...) प्रा पा १७ २४ पंचकल्याणकस्तव (...) प्रा पा २६ २५ सर्वजिनपञ्चकल्याणक स्तव (...) प्रा पा ८ २६ पञ्चकल्याणक स्तोत्र (...) सं पद्य १३ २७ कल्याणक स्तव (पुरन्दर पुरस्पर्द्धि) सं पद्य ७, २८ महाभक्तिगर्भासर्वविज्ञप्तिका (...) प्रा पा २७ २९ पार्श्वस्तोत्र (नमस्कृ...) सं. पद्य ३३ ३० पार्श्व स्तोत्र (...) सं पद्य ३३ ३१ पार्श्वस्तोत्र (सिरि-...) प्रा पा ११ ३२ पार्श्व स्तोत्र (त्वमेव माता त्वं पिता) सं. प ९, ३३ पार्श्व स्तोत्र ( ) ३४ महावीरविज्ञप्तिका (सुरनर...) प्रा पा ११ ३५ वीतरागस्तुतिः (...) सं प ३ ३६ ऋषभजिन स्तोत्र (...) प्रा. पा ८/३३ ३७ क्षुद्रोपद्रवहरपार्श्वस्तोत्र (...) प्रा पा ११ ३८ नंदीश्वरस्तोत्र (...) प्रा पा. १५, ३९ सर्वजिनस्तोत्र (...) सं प ११ ४० चतुर्विंशति जिन स्तोत्र (भीमभव) प्रा पा १४४ ४१ ... (...) प्रा पा ४ ४२ सरस्वती स्तोत्र (...) सं. प २५ ४३ नवकारस्तव (किं किं कप्पतरु) अपभ्रंश ११।

---

१. पद्य १९. २ पद्य १११, १६

इन [1]ग्रन्थों में सार्धशतक षडशीति और [1]पिण्डविशुद्धि ये तीनों ही सैद्धान्तिक ग्रन्थ बहुत ही महत्त्व के थे। इन ग्रन्थों पर आचार्य मलयगिरि, धनेश्वराचार्य हरिभद्राचार्य श्रीचन्द्राचार्य आदिने तत्काल ही अर्थात् १२वीं शती में ही टीकाएं रचकर इनकी सार्वजनिक उपयोगिता घोषित की, और इनके प्रायः समग्र ग्रन्थों पर अनेकों टीकाएं प्राप्त होती हैं।

१ इनके समग्र मूल ग्रन्थों का 'वल्लभभारती' के नाम से मैं सम्पादन कर रहा हूँ। उसमें 'गणिजी के ग्रन्थवैशिष्ट्य पर प्रकाश डालूंगा। अतः यहां पर उनकी विषयप्राञ्जलता पर विचार नहीं कर रहा हूँ।

८. क्या पिण्डविशुद्धि के कर्त्ता पृथक् हैं?

वर्तमान युग में कई मुनिगण 'पिण्डविशुद्धि के कर्त्ता खरतर जिनवल्लभ नहीं है किन्तु इसी नाम के कोई पृथक् आचार्य की यह रचना है' ऐसा मानते हैं। उनमें अग्रगण्य नाम पंन्यास मुनि-मानविजयजी रख सकते हैं। वे अपनी [1]पिण्डविशुद्धि की प्रस्तावना में पक्षव्यामोह से अनेक बातें इतिहासविरुद्ध, प्रमाणशून्य एवं स्वकपोलकल्पनोद्भावित अनेक प्रकारकी शंकाएं उपस्थित कर ऐसा प्रतिपादित करते हैं कि-श्री जिनेश्वरसूरि, श्रीअभयदेवसूरि सुविहितपक्षीय (खरतरपक्षीय) नहीं थे उनका यह प्रतिपादन कहां तक युक्तियुक्त है? इसका विचार मैं अपनी 'वल्लभभारती' की प्रस्तावना में विस्तृतरूप से करूंगा। किन्तु जिनवल्लभ के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसका सारांश प्रस्तावना पृष्ठ २-३-४ में निम्नलिखित है—

"१ जिनवल्लभसूरि खरतर हैं इस प्रकार का प्रवाद स्वगच्छ का उत्कर्ष बताने के लिये किया गया है।

२ षट्कल्याणक की उत्सूत्रप्ररूपणा करने के कारण खरतर जिनवल्लभ को संघबहिष्कृत किया गया था अतः अभयदेवाचार्य के शिष्य भी नहीं हो सकते।

३ तत्कालीन रचित टीकाओं में किसी भी टीकाकार आचार्यने यह निर्देश नहीं किया कि वे खरतर पक्षीय थे और अभयदेवाचार्य के शिष्य थे।

४ ऐसे संघ बहिष्कृत उत्सूत्र प्ररूपक के ग्रन्थ पर श्रीचन्द्रसूरि जैसे समर्थ टीकाकार टीका नहीं रच सकते। अतः यह सुस्पष्ट है कि पिण्डविशुद्धिकार खरतर नहीं हैं किन्तु पृथक् एतन्नामधारक कोई आचार्य हैं।

इस मान्यता पर विचार करें तो केवल यही प्रतीत होता है कि प्रस्तावना लेखक ऐतिहासिक परंपराओं से अनभिज्ञ हैं। प्रमाणों में केवल सेनप्रश्न का प्रमाण दिया है। इस प्रमाण से भी किसी प्रकार पिण्डविशुद्धिकार पृथक् हैं इस विषय में कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

दूसरी बात-जिनवल्लभसूरि १२वीं शताब्दि में हुए हैं, और सेनप्रश्नकार १७वीं शताब्दि में तथा सेनप्रश्न की रचना भी उपाध्याय धर्मसागरजी के उन्मार्गप्ररूपणा के पश्चात् ही हुई है अतः धर्मसागरीय ग्रन्थों का प्रभाव इस पर पूर्णरूप से पड़ा है। अतः ऐसी अवस्था में ग्रन्थकार के जीवन और ग्रन्थों पर विचार करने के लिये सेनप्रश्न का उपयोग कदाचित् भी नहीं किया जा सकता। परन्तु तत्कालीन प्राप्त प्रमाणों के आधार पर ही निर्णय करना चाहिये कि-क्या जिनवल्लभ उत्सूत्रप्ररूपक थे? संघबहिष्कृत थे? और अभयदेवाचार्य के शिष्य नहीं थे? —

गणिजी की षट्कल्याणक प्ररूपणा-उत्सूत्रप्ररूपणा नहीं थी किन्तु सैद्धान्तिक प्ररूपणा ही थी। यदि उत्सूत्रप्ररूपणा होती तो तत्कालीन समग्र गच्छों के आचार्य इसका अवश्य विरोध करते और दुर्लभ

१ श्रीचन्द्रसूरि टीका सह जिनदत्तसूरि ग्रन्थमाला सूरत सं १९९५ में प्रकाशित।

[1]जिनवल्लभ सूचित करते हैं। और इसी प्रकार प्रश्नोत्तरैकषष्ठिशतककाव्य में भी [2]जिनवल्लभेन पद से भी यही सूचित करते हैं। अतः उपसम्पदा पश्चात् ही आचार्य अभयदेवने गणि पद प्रदान किया हो ऐसा प्रतीत होता है।

इनके अनन्तर इन्हीं के पट्टधर युगप्रधान श्रीजिनदत्तसूरि स्वरचित गणधरसार्द्धशतक में ५ आर्याओं से 'सूरिजिनवल्लहो' की स्तुति करते हैं तथा अपने प्रणीत समस्त ग्रन्थों में 'जिनवल्लभसूरि को नमस्कार एवं उनकी स्तुति तो श्रद्धापूर्वक करते ही हैं।

अतः उपरि उल्लिखित बाह्य एवं अभ्यन्तर प्रमाणों से यह निश्चित है कि जिनवल्लभ गणि सुविहित [खरतरगच्छीय] श्रीअभयदेवसूरि के शिष्य एवं पट्टधर थे।

ग्रन्थरचना।

गणिवर १२वीं सदी के प्रकृष्ट विद्वानों में से एक थे। इनका अलङ्कारशास्त्र छन्दशास्त्र व्याकरण, दर्शन ज्योतिष और सैद्धान्तिक विषयों पर एकाधिपत्य था। इन्होंने अपने जीवनकाल में विविध विषयों पर सैकड़ों ग्रन्थों की रचना की थी किन्तु दैव दुर्विपाक से बहुत से अमूल्य ग्रन्थ नष्ट हो गए। और इस वजह इस समय इनके केवल ४१ ग्रन्थ ही प्राप्त होते हैं। उपलब्ध ग्रन्थों की तालिका निम्न है—

१ सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार प्रकरण (सार्धशतक), २ आगमिकवस्तुविचारसार प्रकरण (षडशीति) ३ पिण्डविशुद्धि प्रकरण ४ द्वादशकुलक ५ धर्मशिक्षा प्रकरण ६ संघपट्टक ७ पौषधविधि प्रकरण, ८ प्रतिक्रमण समाचारी प्रा गा ४ ९ स्वप्नाष्टक विचार (प्रश्नोत्तर-षष्टिशतक भाष्य उदयप्रभसूरिकृत), १० प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतकाव्यम् ११ शृङ्गारशतक (अनुपलब्ध) १२ स्वप्नाष्टकविचार (अनुपलब्ध) १३ अष्टसप्तति (अनुपलब्ध) १४ सर्वजीवशरीरावगाहना स्तव प्रा गा १५ भावारिवारणकुलक प्रा. गा १६-२ आदिनाथादि चरित्र पञ्चक सं २१ वीरचरित्र (अजमजरम) प्रा गा. १५ २२ भावारिवारण स्तोत्र गा ३ २३ लघु अजितशान्तिस्तव (उल्लासि) प्रा गा १७ २४ पंचकल्याणकस्तव (सम्मं नमिऊण) प्रा गा २६ २५ सर्वजिनपञ्चकल्याणक स्तव (पणमिय सुर) प्रा. गा ८ २६ पञ्चकल्याणक स्तोत्र (प्रीतिद्वात्रिंशत्) सं पद्य ३३ २७ कल्याणक स्तव (पुरन्दर पुरस्सरि) सं पद्य ७, २८ महाभक्तिगर्भासर्वविज्ञप्तिका (श्रेयाश्रेय) प्रा गा २७ २९ पार्श्वस्तोत्र (नमस्कुर्मोऽम) सं. पद्य ३३ ३ पार्श्व स्तोत्र (नमस्पार्श्व) सं पद्य २९ ३१ पार्श्वस्तोत्र (सिरि-भवणभवणपुरे) प्रा गा ११ ३२ पार्श्व स्तोत्र (त्वमेव माता त्वं पिता) सं. प ९, ३३ पार्श्व स्तोत्र ( ) ३४ महावीरविज्ञप्तिका (सुरनरपरकनवंदन) प्रा गा ३३ ३५ वीतरागस्तुतिः (देवाधीशनुते) सं प ३ ३६ ऋषभजिन स्तोत्र (धवलजुगजिय) प्रा. गा ८।३३ ३७ क्षुद्रोपद्रवहरपार्श्वस्तोत्र (नमिरसुरासुर) प्रा गा २२ ३८ मंदीश्वरस्तोत्र (मंदिर मंदिर) प्रा. गा. २५, ३९ सर्वजिनस्तोत्र (प्रीतिप्रसन्नमुख) सं प ३३ ४ चतुर्विंशति जिन स्तोत्र (भीमभव) प्रा गा १४४ ४१ भारमस्तुति (मरदेवीनाभि) प्रा गा ४ ४२ सरस्वती स्तोत्र (सरभसलसद्) सं. प २५ ४३ नवकारस्तव (किं किं कप्पतरु) अपभ्रंश ११।

---

१ पद्य ३३, २ पद्य १३१, १६

पाप करनेका उपदेश दिया है। दूसरे पद्य में श्रोताओं की योग्यता को दिखलाया है। ३–४ पद्य में उपमाओं द्वारा चैत्यवासियों को विवेकहीन प्रमाणित सिद्ध करते हुए पूर्व पद्य में १ औद्देशिक भोजन २ जिनगृह में निवास, ३ वसतिवास के प्रति मात्सर्य ४ द्रव्यसंग्रह ५ श्रावक भक्तों के प्रति ममत्व ६ चैत्य स्वीकार (निश्रा) ७ गद्दी आदि का आसन ८ सावद्य आचरण ९ सिद्धान्तमार्ग की अवज्ञा और १० गुणियों के प्रति द्वेष का विवेचन। इस प्रकार विवेकहीन दस द्वारों का उल्लेख किया है। ६ से १३ पद्य पर्यन्त दस द्वारों का विशद वर्णन किया है। १४–१५ में मन्दरचना का कारण कह कर, १६–१७ में सुविहित साधु-वृन्द के पूतपान की प्रशंसा की है। १८वें ३९–४०वें पद्य में मत्तकाम्भोजस्थ सैन्य की उपमा प्रदान कर प्रार्थना करते हुए उपसंहार किया है।

इस लघुकाय धार्मिक ग्रन्थ को भी महाकविने श्लेषोपमा अप्रस्तुत प्रशंसा अर्थान्तरन्यास दृष्टान्तोभित्ति रूपक उपमा अनुप्रासादि अलंकारों से सज्जित कर अपनी बहुमुखी प्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया है। साथ ही इस में स्रग्धरा शार्दूलविक्रीडित मन्दाक्रान्ता शिखरिणी त्रिपदी पृथ्वी मालिनी वसन्ततिलका आदि ८ पृथक् २ छन्दों में ग्रथित कर छन्दशास्त्र पर एकाधिपत्य भी सिद्ध किया है। समग्र काव्य ओजोगुण से परिपूर्ण होने के कारण पाठक के हृदय में भी आनन्द ही उत्पन्न कर देता है।

संघपट्टक की टीकायें—इस लघु काव्यग्रन्थ पर अनेक मनीषियोंने भाष्य वृत्ति अवचूरि, बालावबोध आदि रच कर इसकी महत्ता, उपयोगिता स्थापित की है। वर्तमान में इस पर वृत्ति आदि ८ आठ कृतियें ही प्राप्त होती हैं। जिनकी तालिका निम्नलिखित है।

१ बृहद्वृत्ति जिनपतिसूरि	२ लघुवृत्ति श्रीलक्ष्मीसेन	३ लघुवृत्ति हर्षराज गणि
४ अवचूरि उ. साधुकीर्ति	५ पंजिका देवराज	६ लघुवृत्ति विवेकरत्नसूरि
७ लघुवृत्ति (?)×	८ बालावबोध उ. लक्ष्मीवल्लभ।	

इनमें आचार्य श्रीजिनपतिसूरि की टीका सब से बड़ी है और सर्वश्रेष्ठ भी। यह टीका अनुवाद सह पूर्वमें प्रकाशित हो चुकी है। फिर हाल यह ग्रन्थ अवचूरि और दो लघुवृत्तियों के साथ प्रकाशित हो रहा है।

अवचूरिकार—महोपाध्याय साधुकीर्ति खरतरगच्छीय श्रीजिनभद्रसूरि की परम्परा में वाचनाचार्य श्रीअमरमाणिक्य के शिष्य थे। आपने सं. १६१७ में युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि रचित पौषधविधिप्रकरणवृत्ति का संशोधन किया था। सं. १६२५ में आगरा में सम्राट् अकबर की सभा में पौषध विधि विषय में श्री बुद्धिसागरजी के साथ शास्त्रार्थ कर उन्हें निरुत्तर किया था। १६३२ में मिगसर वदि १५ को श्रीजिनचन्द्रसूरिजीने आपको उपाध्याय पद प्रदान किया था। सं. १६४६ माघ वदि १४ को जालोर में आप का स्वर्गवास हुआ था। आपने अपने जीवनकाल में सप्तस्मरण बालावबोध आदि अनेकों ग्रन्थों की रचना की जिन में २१ छोटे–मोटे ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

प्रस्तुत अवचूरी की रचना १६१९ माघ सुदि की ५ पंचमी[1] को पूर्ण हुई है। यह अवचूरि होते हुए भी स्वयं प्रकाशित होने के कारण टीका का ही सादृश्य रखती है।

लक्ष्मीसेन—इनके सम्बन्ध में अन्य कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं। केवल इस टीका की प्रशस्ति[2] से ही ज्ञात होता है कि—ये खरतरगच्छीय जिनकीर्तिके श्रावक वीरदास के पौत्र और धीरवीर

× सं. ५-६-७ जिनरत्नकोषानुसार. १ देखें युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि पृ. १९२–से उद्धृत.
२ इसी ग्रन्थ के पृ. ११ ३ इसी ग्रन्थ के पृ. ४३–४४ श्लो ३–३–४–५.

श्रीहमीर के पुत्र थे। इन्होंने यह स्फुटार्था नाम की टीका रचना सं. १५११ में की है। समयसार जैसे दुरूह काव्य की टीका १९ वर्ष की अवस्था में बनाना उन के पाण्डित्य का द्योतक है।

यह स्फुटार्था नाम की टीका सामान्य सी ही है। टीकाकार कई २ स्थलों पर दार्शनिक मन्तव्यों का कथन त्याग कर भावार्थ-तात्पर्य मात्र ही प्रकट करने को उत्सुक प्रतीत होती है अतः कई स्थलों का विवेचन अस्पष्ट रह गया है। साथ ही इनके सन्मुख बृहट्टीका होने के कारण कई स्थानों में उन्हीं शब्दों का उद्धरण यथास्थिनयास कर दिया है।

इस में आश्चर्य की वस्तु यह है कि इस काव्य की केवल १९ पद्य की टीका-प्राप्त नहीं होती है। इस सम्पादन में पू. उपाध्यायजीने तीन प्रतियों का उपयोग किया है, और इस की एक प्रति मेरे संग्रह में भी है, पर किसी में भी इस श्लोक की टीका दृष्टिगोचर नहीं होती है। अतः इस प्रकाशन में स्थानरिक्त न रखकर श्रीहर्षराज गणि की ही १९वें पद्य की टीका के रूप में दी है।

हर्षराज—ये श्रीजिनभद्रसूरि के शिष्य महोपाध्याय श्रीसिद्धान्तरुचि के प्रशिष्य व श्री अभयसोम के शिष्य थे। इन के सम्बन्ध में विशेष वृत्तान्त ज्ञात नहीं होता है। इस की प्रशस्ति में रचना-संवत् का उल्लेख भी नहीं है, पर महो. श्री सिद्धान्तरुचि के प्रशिष्य होने कारण इसकी रचना १६वीं शताब्दि के प्रारंभ में ही हुई है।

यह अवचूरि वस्तुतः अवचूरि नहीं है किन्तु श्रीजिनपति की बृहट्टीका का संक्षिप्त संस्करण मात्र ही है। बृहट्टीका में प्रयुक्त पद विषयप्रतिपादक आगमिक उद्धरण इत्यादि का त्याग कर मूलग्रन्थानुसारिणी समग्र टीका का प्रारम्भ से अन्त तक पंक्ति-पंक्ति अक्षर-अक्षर का उद्धरण कर संक्षिप्त संस्करण तैयार किया है। उदाहरणार्थ केवल १८वें पद्य की टीका की कुछ पंक्तियें ही देखिये—

जिनपतिसूरि टीका—"साम्प्रतं प्रकरणमर्थ प्रकरणं समाप्तुकामः ... सूचयन्नन्येन स्वनामकेपमाविर्भावयितुमाह—

'जिनाधिपत्तु'। व्याख्या—जिनं नमे इति सम्बन्धः। जिनाधिपं त्रिभुवनाधिपमपि ... अनर्थे' ... मस्ति ... श्रुतोक्ताने ... अनायाई' आर्त्य-मनोरथं ददाति-पूरयति आशावाः, न आशानो-अवाप्तवन्तं ... पुंसो ... सन्तापमिततथं। 'सज्ञानयुमणि' सज्ञानेन-केवलज्ञानेन लोकालोकप्रकाशकत्वात् भास्वन्तं 'जिनं तीर्थकरं' इत्यादि।

अतः यह स्पष्टतया प्रतिपादित हो जाता है कि यह केवल संस्करण ही है मौलिक टीका नहीं।

पूज्य उपाध्यायपदालंकृत मुनि-श्रीसुखसागरजी म. ने प्रस्तुत उपोद्घात लिखने का जो मुझे अवसर दिया है एतदर्थ मैं आभार मानता हूँ।

अहमदाबाद
कल्याणदास जैन उपाश्रय
१६-६-५२।

पूज्य श्रीजिनमणिसागरसूरीश्वरान्तेवासि
पं. वि. उपाध्याय विनयसागर
साहित्याचार्य जैन दर्शनशास्त्री
साहित्यरत्न [संस्कृत हिन्दी] काव्यतीर्थ।



श्री जिनवल्लभसूरि-रचित संघपट्टक वृत्ति

ताड़पत्रीय ग्रंथ 'काष्ठपट्टिका' पर चित्रित श्री जिनवल्लभसूरि मूर्ति (जैसलमेर)

॥ श्रीस्तम्भनपार्श्वनाथाय नमः ॥

श्रीखरतरगच्छालंकार–नवाङ्गीवृत्तिकार–श्रीजिनअभयदेवसूरिशिष्य–कवीन्द्रचूडामणी
श्रीजिनवल्लभसूरिविरचितः।

जिनभद्रसूरिशाखान्तर्गत–साधुकीर्तिगणिनिर्मितावचूरीसमलङ्कृतः

श्रीसंघपट्टकः

श्रीमत्पार्श्वजिनं नत्वा, सर्वसम्पत्तिदायकम्।
सङ्घपट्टकशास्त्रस्या–ऽक्षरार्थं वितनोम्यहम् ॥ १ ॥

इह हि पुरा दशशताशीतिवर्षे श्रीमदणहिल्लपत्तने दुर्लभराजसभायां चैत्यवासिनो विनिर्जित्य प्राप्तखरतरबिरुदः श्रीजिनेश्वरसूरिः, तत्पट्टे जिनचन्द्रसूरिः, तद्विनेयः श्रीस्तम्भनकपार्श्वप्राकट्यकृत् नवाङ्गीवृत्तिविधाता च श्रीअभयदेवसूरि, तच्छिष्यः श्रीजिनवल्लभसूरिः शिथिलाचारनिरासाय परोपकारकरणाय च श्रीसङ्घस्य पट्टकरूपं श्रीसंघराजपट्टकशास्त्रं चकार, तस्याद्यकाव्यम्—

वह्निज्वालावलीढं कुपथमथनधीर्मातुरस्तोकलोक,–
स्याग्रे संदर्श्य नागं कमठमुनितपः स्फुटयन् दुष्टमुच्चैः।
यः कारुण्यामृताब्धिर्विधुरमपि किल स्वस्य सद्यः प्रपद्य,
प्राज्ञैः कार्यं कुमार्गस्खलनमिति जगादेव देवं स्तुमस्तम् ॥ १ ॥

व्याख्या—"वह्नि०" तं देवं स्तुमः। तमिति कं? यो भगवान् मातुरग्रे अस्तोकलोकस्य–समस्तलोकस्य अग्रे नागं–सर्पं संदर्श्य–दर्शयित्वा प्राज्ञैः–पण्डितैः 'कुमार्गस्खलनं कार्यम्' इति जगादेव–इति कथयामासेव। कथम्भूतं नागं? वह्निज्वालावलीढम्–अग्निज्वालाव्याप्तम्। कथम्भूतो भगवान्? कुपथस्य–कुमार्गस्य मथने धीः–बुद्धिर्यस्य। पुनर्भगवान् किं कुर्वन्? उच्चैः–अत्यर्थं कमठमुनितपः दुष्टं स्फुटयन्–प्रकटी कुर्वन्। कथम्भूतो भगवान्? कारुण्यामृताब्धिः–कारुण्यरूपामृतस्य अब्धिः–समुद्रः। किं कृत्वा कुमार्गस्खलनं कार्यं? तदाह–'किल' इति सत्ये स्वस्य–आत्मनः सद्यः–शीघ्रं विधुरमपि–कष्टमपि प्रपद्य–अङ्गीकृत्य। इति प्रथमकाव्यार्थः ॥ १ ॥

कल्याणाभिनिवेशवानिति गुणग्राहीति मिथ्यापथ,-
प्रत्यर्थीति विनीत इत्यशठ इत्यौचित्यकारीति च ।
दाक्षिण्यीति दमीति नीतिभृदिति स्थैर्यीति धैर्यीति सद्,-
धर्मार्थीति विवेकवानिति सुधीरित्युच्यसे त्वं मया ॥ २ ॥

व्याख्या-कल्या० ॥ कल्याणः-शुभः, अभिनिवेशः-मनःपरिणामो यस्येति कल्याणाभिनिवेशवान् इति । गुणग्राहीति । मिथ्यापथस्य-कुमार्गस्य प्रत्यर्थी-वैरी, इति । विनीत इति । अशठः-सरल(इति) औचित्यकारीति-योग्यताकारीति । च-पुनः दाक्षिण्यीति । दमी-जितेन्द्रिय इति । नीतिभृत्-न्यायमार्गधारक इति । स्थैर्यी-स्थिरत्ववान् इति । धैर्यी-धीरत्ववानिति । सद्धर्मस्यार्थीति । विवेकवानिति । सुधीः-सुबुद्धिरिति । हे शिष्य ! एवंगुणविशिष्टस्त्वम्, अत एव मयोच्यसे त्वमिति, त्वां प्रत्यहं वच्मीति काव्यार्थः ॥ २ ॥

इह किल कलिकालव्यालवक्त्रान्तराल-स्थितिजुषि गततत्त्वप्रीतिनीतिप्रचारे ।
प्रसरदनवबोधप्रस्फुरत्पापयौघ,-स्थगितसुगतिमार्गे सम्प्रति प्राणिवर्गे ॥ ३ ॥

प्रोत्सर्पद्भस्मराशिग्रहसकलसमाश्चर्यसाम्राज्यपुष्य,-
न्मिथ्यात्वध्वान्तदग्धे जगति विरलतां याति जैनेन्द्रमार्गे ।
सङ्क्लिष्टक्लिष्टमूढप्रबलकलजनाम्नायदम्भैर्विनोक्ति,-
प्रत्यर्थी साधुवेषैर्विषयिभिरभितः सोऽयममायि पन्थाः ॥ ४ ॥

व्याख्या-इह० ॥ प्रो० ॥ विषयिभिः-विषयसेवकैः साधुवेषैः-लिङ्गधारिभिर्हीनाचारैः चैत्यवासिभिः अभितः-समन्तात् सोऽयं पन्था-मार्गः अमायि-विस्तारितः। क सति ? सम्प्रति इह-दुष्षमाकाले किलेति सत्ये प्राणिवर्गे एवंविधे सति । कथम्भूते प्राणिवर्गे ? कलिकाल एव-दुष्षमाकाल एव व्यालः-सर्पस्तस्य वक्त्रान्तरालं-मुखान्तरालं, तत्र स्थितिः-स्थानं तां जुषते-सेवते यः सः । पुनः कथम्भूते ? गततत्त्वप्रीतिनीतिप्रचारे-गतो तत्त्वप्रीतिः, नीतिप्रचारश्च न्यायप्रचारस्तौ यस्य सः । पुनः कथम्भूते ? प्रसरत्-प्रसरणशीलो योऽनवबोधः-अज्ञानं तेन प्रस्फुरत्पापयौघः-कुमार्गे समूहस्तेन स्थगितः-आच्छादितः सुगतिमार्गः-देवगत्यादिमार्गो यस्य सः ॥३॥ पुनः क सति ? जगति जैनेन्द्रमार्गे विरलतां याति सति । कथम्भूते जैनेन्द्रमार्गे ? " प्रोत्सर्प्प " प्रोत्सर्पन्-उद्गच्छन् यः भस्मराशिग्रहस्तस्य सकला-मिश्रं यदाश्चर्यम्-असंयतिपूजालक्षणं तस्य साम्राज्यं तेन पुष्यन्-प्रवर्द्धन् मिथ्यात्वमेव ध्वान्त-तमस्तेन

रुद्धे। कथम्भूतैः साधुवेषैः ?, सक्लिष्टो-रौद्राध्यवसायवान् क्लिष्टो-मत्सरी मूढः-मूर्खः प्रखलः-दुर्जन बठः-दुर्मेधा एवम्भूतो यो जनस्तस्य सङ्घस्य आम्नायः-परम्परा तत्र रक्तैः। कथम्भूतः पन्था ? जिनोक्तो-भगवद्वचनस्य प्रत्यर्थीति काव्यार्थः ॥ ४ ॥

अथ द्वारमाह—

> यत्रौद्देशिकभोजनं जिनगृहे वासो वसत्यक्षमा,
> स्वीकारोऽर्थगृहस्थचैत्यसदनेष्वप्रेक्षिताद्यासनम्।
> सावद्याचरितादरः श्रुतपथाऽवज्ञा गुणिद्वेषधीः,—
> धर्मः कर्महरोऽत्र चेत्पथि भवेन्मेरुस्तदाऽब्धौ तरेत् ॥ ५ ॥

व्याख्या-यत्रौ० ॥ यत्र मार्गे औद्देशिकस्य-आधाकर्मणो भोजनम् ॥ १ ॥ जिन गृहे वासः-वसनम् ॥ २ ॥ वसत्यक्षमा-वसतिम्-उपाश्रयं प्रति अक्षमा-मात्सर्यम् ॥ ३ ॥ अर्थः ॥ ४ ॥ गृहस्थः ॥ ५ ॥ चैत्यसदनेषु-चैत्यगृहेषु स्वीकारः ॥ ६ ॥ अप्रेक्षितादि-अप्रमार्जितादि आसनम् ॥ ७ ॥ सावद्याचरणायामादरः ॥ ८ ॥ श्रुतपथस्य-सिद्धान्तमार्गस्य अवज्ञा-हीला ॥ ९ ॥ गुणिषु द्वेषधीः ॥ १० ॥ अत्र पथे-दशद्वारसंयुक्ते चेत्-यदि धर्मः कर्महरः स्यात्तदा मेरुपर्वते 'अब्धौ तरेत्' इति निषेध वाक्य, कदापि न भवति ॥ ५ ॥

औद्देशिकभोजनद्वारं व्याख्यानयति—

> षट्कायानुपमर्द्य निर्दयमृषीनाधाय यत्साधितं,
> ग्रासेषु प्रतिलिप्यते यदसकृन्निस्त्रिंशताऽऽधायि यत्।
> गोमांसाद्युपमं यदाहुरथ यद् भुक्त्वा यतिर्यात्यधः,
> तत्को नाम जिघत्सतीह सघृणः श्राद्धादिभक्तं विदन् ॥ ६ ॥

व्याख्या-षट्० ॥ षट्कायान्-पृथिव्यादीन् निर्दयम् उपमर्द्य-आरभ्य यत् आधाकर्म ऋषीन्-साधून् आधाय-मनस्यवधार्य साधितं-निष्पादितं यत् ग्रासेषु असकृत्-वारंवारं प्रतिलिप्यते, यत्पुनर्निस्त्रिं(स्त्रिं)शतायापि-निस्त्रिंशतायाः-निःशूकत्वस्य आधायि-कारकं यत् गोमांसाद्युपमं-गोमांसादितुल्यमाहुस्तीर्थकराः, अथ यत्-अशनं भुक्त्वा यतिः अधः-नरके याति। एवं रूपमस्थानमाधाकर्म तत् श्राद्धादिनिमित्त मशनं तदिति कोमलामन्त्रणे इह-जगति कः सघृण-सदयो जिघत्सति-भोक्तुमिच्छति ? किं कुर्वन् ? विदन्-जानन्, एतावता ज्ञात्वा न कोऽपि भोक्तुमिच्छतीति ॥ ६ ॥

द्वितीयपद्यमाह—

गायद्गन्धर्वनृत्यत्पणरमणिरणद्वेणुगुञ्जन्मृदङ्ग-
प्रेङ्खत्पुष्पस्रगुद्यन्मृगमदलसदुल्लोचचञ्चत्सनीथे ।
देवद्रव्योपभोगप्रभवमठपतिताऽऽशातनाभ्यस्त्रसन्तः,
सन्तः सद्भक्तियोग्ये न खलु जिनगृहेऽर्हन्मतज्ञा वसन्ति ॥ ७ ॥

व्याख्या–गाय० ॥ जिनगृहे अर्हच्चैत्ये अर्हन्मतज्ञा–अर्हन्मतज्ञातारः सन्तः खलु–निश्चितं न वसन्ति । कथम्भूते चैत्ये ? गायद्गन्धर्वा गायन्तो गन्धर्वा यत्र, नृत्यन्ती पणरमणी–वेश्या यत्र, रणद्वेणुः–रणन्तः–शब्दं कुर्वन्तो वेणवो–वंशा यत्र, गुञ्जन्तो मृदङ्गाः–मर्दला यत्र तत् गुञ्जन्मृदङ्गं, प्रेङ्खत्पुष्पस्रक्–प्रेङ्खन्त्यो–उल्लसमानाः पुष्पस्रजः–पुष्पमाला यत्र, उद्यन्–सद्यस्कलगन्धो–मृगमदः–कस्तूरिका यत्र, लसन्तः दीप्यमानाः उल्लोचाः–चन्द्रोदया यत्र, चञ्चत्सनीथाः–चञ्चन्तः–महाधनवस्त्रादिभूषणभूषिताः सनीथाः–श्रावकसङ्घा यत्र स सर्वपदैकपदसमासः । चैत्ये एतत्सर्वं भवति । किम्भूताः सन्तः ? देव० देवद्रव्यस्योपभोग भुवं निमित्तं या मठपतिता आशातना च ताम्बूलभक्षणशयनासनादिरूपा, ताभ्यः त्रसन्तः । कथम्भूते चैत्ये ? सद्भक्तियोग्ये, एतावता चैत्यभक्तिः कार्या, तत्र वासो न कार्यः ॥ ७ ॥

तृतीयपद्यमाह—

साक्षाज्जिनैर्गणधरैश्च निषेवितोक्तां, निस्सङ्गताऽग्रिमपदं मुनिपुङ्गवानाम् ।
शय्यातरोक्तिमनगारपदं च जानन्, विद्वेष्टि कः परगृहे वसतिं सकर्णः ॥ ८ ॥

व्याख्या—साक्षा० ॥ कः सकर्णः–विद्वान् परगृहे–श्रावकोपाश्रये वसतिं–स्थानं विद्वेष्टि–तत्र द्वेषं धत्ते अपितु न कोऽपि । कथम्भूतां वसतिं ? साक्षाज्जिनैः–तीर्थङ्करैः, गणधरैश्च–गौतमादिभिः निषेवितोक्ता–निषेविता–सेविता उक्ता च भव्येभ्यः । पुनः किम्भूतां वसतिं ? मुनिपुङ्गवानां–मुनिप्रवराणां निस्सङ्गताग्रिमपदं–निस्सङ्गताया अग्रिमं–प्रधानं पदं–स्थानं परगृहे वसतां साधूनां सङ्गोऽपि न स्यात् । सकर्णः किं कुर्वन् । शय्यातरोक्तिं शय्यया–वसत्या तरति संसारसागरमिति शय्यातरस्तस्य उक्तिः–कथनं, पुनः–अनगारपदं, न विद्यते अगारं–गृहं यस्य सः अनगारस्तस्य पदं जानन्, एतावता अनगारस्य श्राद्धगृहे वसनमेव श्रेयः ॥ ८ ॥

पुनरपि तदुद्धारमेवाह—

चित्रोत्सर्गापवादे भविह शिवपुरीदूतभूते निशीथे,
प्रागुक्ता भूरिभेदा गृहिगृहवसतीः कारणेऽपोद्य पश्चात् ।
स्त्रीसंसक्त्यादियुक्तेऽप्यभिहितयतनाकारिणां संयतानां,
सर्वत्रागारिधाम्नि न्ययमि न तु मतः क्वापि चैत्ये निवासः ॥ ९ ॥

व्याख्या–चित्रो० ॥ यत्–यस्मात्, इह–प्रवचने निशीथे–निशीथग्रन्थे निशीथनाम्नि छेदग्रन्थे सर्वत्र अगारधाम्नि–श्राद्धगृहे संयतानां–साधूनां निवासो न्ययमि–नियमेन प्रतिपादितः । कथम्भूते निशीथे ? चित्रोत्सर्गापवादे–चित्रौ–नाना प्रकारौ उत्सर्गापवादौ नयौ यत्र तत्, तत्र नयद्वयस्य विस्तरव्याख्याऽस्तीति । पुनः किम्भूते ? शिवपुरीदूतभूते–शिवपुर्याः–मोक्षनगर्या दूतभूते तत्र ग्रन्थे प्राक्–प्रथम भूरिभेदाः–अनेकप्रकाराः गृहिगृहवसतीः–गृहिण्य गृहमेव वसतयः–उपाश्रयास्ता उक्त्वा पश्चात्कारणे सति अपोद्य–अपवादविषयीकृत्य पूर्वमुत्सर्गेण ‘स्त्रीसंसक्त्यादियुक्ते उपाश्रये न वस्तव्य साधुना’ इत्युक्त पश्चादपवादमार्गेण तत्र वसनीयमित्यपि प्रोक्तम् । कथम्भूत अगारधाम्नि ? स्त्रीसंसक्त्यादियुक्तेऽपि–स्त्रीपशुपण्डकानां संसर्गादि युक्तेऽपि वसनीयम् । कथम्भूतानां संयतानाम् ? अभिहित–यतनाकारिणाम्–अभि हिता–प्रोक्ता या यतना–परिच्छदादानरूपा तत्कारिणाम् । एवमुत्सर्गेण अपवादेनापि गृहस्थगृह एव वसनीय न पुनः क्वापि चैत्ये निवासोऽनुमत ॥ ९ ॥

प्रव्रज्याप्रतिपन्थिनं ननु धनस्वीकारमाहुर्जिनाः,
सर्वारम्भिपरिग्रहं त्वतिमहासावद्यमाचक्षते ।
चैत्यस्वीकरणे तु गर्हिततम स्यान्माठपत्य यते,–
रित्येवं प्रतवैरिणीति ममता युक्ता न मुक्त्यर्थिनाम् ॥ १० ॥

व्याख्या–प्रव्र० ॥ ननु–निश्चित जिनाः–तीर्थकराः धनस्वीकारम्–अर्थाङ्गीकार प्रव्रज्याप्रतिपन्थिनं–दीक्षाविरोधिनम् आहुः–कथयन्ति तु–पुनः सर्वारम्भिपरिग्रहं, सर्वारम्भिणां–गृहस्थानां परिग्रह–स्वीकारं ममैते गृहस्था इति, अतिमहासावद्यम्–अत्यन्त महापापम् आचक्षत वदन्ति । तु–पुनः यतेः–साधोः चैत्यस्वीकरणे–चैत्यममत्वे गर्हिततमम्–अत्यन्तगर्हणीय माठपत्यं–मठपतित्व स्यात् । इत्येवप्रकारेण मुक्त्यर्थिना–

मुक्तेः प्रार्थकानां साधूनां ममता न युक्ता, कथम्भूता ममता ? भववैरिणी, इति–अर्थ–गृहस्थचैत्यस्वीकारः । इति द्वारत्रयं व्याख्यातम् ॥ १० ॥

भवति नियतमत्रासंयमः स्याद्विभूषा, नृपतिककुदमेतल्लोकहासश्च भिक्षोः ।
स्फुटतर इह सङ्गः सातशीलत्वमुच्चै–रिति न खलु मुमुक्षोः संगतं गद्दिकाऽपि ॥ ११ ॥

व्याख्या—भवति० ॥ अत्र–गद्दिकाद्यासने नियतं–निश्चितम् असंयमो भवति गद्दिकादीनां प्रतिलेखयितुमशक्यत्वात् । विभूषा–शोभा स्यात् महापुरुषसेवनीयत्वात् । एतत्–आसनसेवनं नृपतिककुद–राजचिह्नं च पुनः भिक्षोः–साधोः लोकहासः स्यात्–'अहो ! मुण्डितोऽप्येषविष्टासनेषु उपविशति' इह गद्दिकासने सङ्गपरिग्रहः स्फुटतरः–प्रकटतरः उच्चैः–अत्यर्थं सातशीलत्वं–सुखलम्पटत्वम् । इति हेतोः खलु–निश्चितं मुमुक्षोः–साधोः गद्दिकादि, आदिशब्दात् मसूरकसिंहासनादेः परिग्रहः, तत् न संगतं– न युक्तम् । अप्रेक्षिताद्यासनद्वारं व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

सावद्याचरितद्वारमाह—

गृही नियतगच्छभाग् जिनगृहेऽधिकारो यतेः, प्रदेयमशनादि साधुषु यथा तथाऽऽरम्भिभिः ।
व्रतादिविधिधारणं सुविहितान्तिकेऽगारिणो, गतानुगतिकैरदः कथमसंस्तुतं प्रस्तुतं ॥ १२ ॥

व्याख्या—गृही० ॥ गृही–श्रावकः नियतगच्छभाक्, नियतं–निश्चितं स्वगच्छमेव भजतीति नियतगच्छभाक्, स्वगच्छं मुक्त्वाऽन्यत्र न गन्तव्यम्, यतेः–साधोः–जिनगृहे–चैत्येऽधिकारः–तच्चिन्ताकरणं 'प्रदेयमशनादी' त्यादि, आरम्भिभिः–गृहस्थैः साधुषु अशनादि–अशनपानखादिमस्वादिमादि यथातथा–येन तेनापि प्रकारेण प्रदेयं तत्राधाकर्मदानेऽपि दोषो न अगारिणां–गृहस्थानां सुविहितान्तिके–साधुसमीपे व्रतादि विधिधारणं साधुसमीपे शीलव्रतादि नाङ्गीकरणीयं गतानुगतिकैः–एककालप्रवाहपतितैः चैत्यवासिभिः अदः–पूर्वोक्तम् असंस्तुतम्–अयुक्तं कथ–केन प्रकारेण प्रस्तुत–प्रारब्धम् ॥ १२ ॥

श्रुतपथावज्ञाद्वारमाह—

निर्वोढार्मिनमुच्चितः गुणलवैरज्ञातशीलान्वयः,
तादृग् यत्नकृतमुनेन गुरुणा स्वार्थाय मुण्डीकृतम् ।
यद्विख्यातगुणाम्बया अपि जना ज्योमगच्छमहा,–
दैवेभ्योऽधिकमर्चयन्ति महतो मोहस्य तज्जृम्भितम् ॥ १३ ॥

व्याख्या—निर्वाहा० ॥ यत्—यस्मात्कारणात् एवंविधा जना एवंविधं गुरुं देवेभ्योऽधिकमर्घयन्ति तत् महतः—प्रबलस्य मोहस्य—मोहनीयकर्मणो जृम्भित-माहात्म्यम्। कथम्भूतं गुरुं? निर्वाहार्थिनं—निर्वाहस्य—उदरभरणस्यार्थिनम्। पुनः किम्भूतम्? गुणलवैः—गुणलेशैः उज्झितं—त्यक्तम्। पुनः किम्भूतम्? अज्ञातशीलान्वयम्—अज्ञातं शीलम्—आचारः अन्वयश्च—कुलं यस्य स (तम्।) पुनः किम्भूतम्? तादृग्लक्षणशद्गुणेन गुरुणा शिष्यतुल्यप्राणाशाविधायकेन शद्गुणेन—शिष्यतुल्यगुणेन एवंविधेन गुरुणा स्वार्थाय—स्वोदरभरणाय मुण्डीकृत तादृक्षशाद्वक्षमेव मुण्ड्यते। कथम्भूता जनाः विख्यातगुणान्वया अपि विख्याताः—प्रसिद्धाः गुणान्वयो यशो येषां ते सगुणाः—सुकुलोत्पन्ना अपि। पुनः किम्भूताः? स्मयोग्रगच्छग्रहाः, स्मय उग्रः—उत्कटो गच्छग्रहो येषां ते ॥ १३ ॥

पुनरप्येतदुद्धारमाह—

दुष्प्रापा गुरुकर्मसञ्चयवतां सद्धर्मबुद्धिर्नृणां,
जातायामपि दुर्लभः शुभगुरुः प्राप्तः स पुण्येन चेत्।
कर्तुं न स्वहितं तथाऽप्यलममी गच्छस्थितिव्याहताः,
क्व ब्रूमः कमिहाश्रयेमहि कमाराध्येम किं कुर्महे ॥ १४ ॥

व्याख्या—दुष्प्रापा० ॥ गुरुकर्मसञ्चयवतां—गुरुकर्मसमूहवतां नृणां सद्धर्मबुद्धिः—प्रधानधर्मबुद्धिः दुष्प्रापा गुरुकर्मत्वात् सद्धर्मबुद्धिर्न कदाचित् सद्धर्मबुद्धौ जातायामपि पुनरपि शुभगुरुः दुर्लभः—दुष्प्रापः यद्—यदि स गुरुः पुण्येन प्राप्तः, तथापि—एवं सामग्रीयोगेऽपि अमी श्राद्धाः स्वहितं कर्तुं नालं—न समर्थाः। कथम्भूता जनाः? गच्छस्थितिव्याहताः—गच्छस्थित्या—गच्छमर्यादया व्याहताः—वशीकृताः। एवं स्थिते क्व पुरुषं ब्रूमः, कं पुरुषम् इह—जगति आश्रयमहि—शरणं प्रपद्येमहि, कं पुरुषम् आराध्यमहि—आराध्यामः किं कुर्महे ॥ १४ ॥

क्षुत्क्षामः किल कोऽपि रङ्कशिशुकः प्रव्रज्य चैत्ये क्वचित्,
कृत्वा किञ्चन पक्षमक्षतकलिः प्राप्तस्तदाचार्यकम्।
चित्रं चैत्यगृहे गृहीयति निजे गच्छे कुटुम्बीयति
स्वं शक्रीयति बालिशीयति बुधान् विश्वं वराकीयति ॥ १५ ॥

व्याख्या—क्षुत्क्षाम० ॥ किलेति संभावनायां कोऽपि क्षुत्क्षामः—क्षुधया क्षामः—क्षीणः क्षुत्क्षामः एवम्भूतो रङ्कशिशुकः—रङ्कस्यपुत्रः स वैराग्याभावेऽपि कश्चित्

जिनगृहे चैत्ये प्रव्रज्य-दीक्षां गृहीत्वा ततः कञ्चन पुरुषं पथ-स्ववश कृत्वा क्रमेण तत् आचार्यकम्-आचार्यत्वं प्राप्तः। कथम्भूतः सः ? अधिकलिः-अधितः-अनिशः कलिः-कलहो यस्य स कलहयुक्तः। एतत् चित्रम्-आश्चर्यं स आचार्यपदवीप्राप्तो निर्गुणोऽपि चैत्यगृहे गृहीयति-'ममेदं चैत्य'-मिति गृहस्थवदाचरति। निजे मन्ये कुटुम्बीयति-कुटुम्बिपुरुषवदाचरति। स्वम्-आत्मानं शक्रीयति-शक्रवत्-इन्द्रवदाचरति। बुधम्-पण्डितान् बालिशीयति-मूर्खीयति। विश्व-जगत्, वराकीयति-वराकवदाचरति चैत्यवासिषु एतत् साक्षात् दृश्यते ॥ १५ ॥

पुनरपि श्रुतपथावज्ञाद्वारमाह—

> यैर्जातो न च वर्द्धितो न च न च क्रीतोऽधमर्णो न च,
>
> प्राग्दृष्टो न च बान्धवो न च न च प्रेयान्न च प्रीणितः।
>
> तैरेवाप्रयमाधमैः कृतमुनिव्याजैर्बलाद् वाह्यते,
>
> न स्योऽः पशुवज्जनोऽयमनिशं नीराजके हा! जगत् ॥ १६ ॥

व्याख्या—यैर्जातो० ॥ यैः-शिथिलाचारिगुरुभिः अयं जनः-श्राद्धलोकः पितृरूपेण तेन न जनितः-जन्म प्रापितः, च पुनः वर्द्धितः-वृद्धिं नीतः, न क्रीतः-मूल्येन गृहीतः, न च तेषां गुरूणाम् अधमर्णः-अर्थदाता, न च श्राद्धकस्तु उत्तमर्णः, प्राक् प्रथमं दृष्टः-विलोकितः, न च तेषां बान्धवः-भ्राता, न च प्रेयान्-वल्लभः, न च यैर्गुरुभिः प्रीणितः-भक्तादिप्रदानेन सन्तोषितः, न च तैरेव गुरुभिः अनिशं-निरन्तरम् अयं जनः बलात्-हठात् नस्योतः पशुवत्-नस्तित इव वृषभवत् वाह्यते-इतस्ततो भ्राम्यते। कथम्भूतैस्तैः ? अत्यधमाधमैः-अति अत्यर्थम् अधमेभ्योऽधमाः। पुनः कथम्भूतैः ? कृत-मुनिव्याजैः-विहितमुनिकपटैः, अत एव 'हा!' इति खेदे जगत् नीराजकम्-अधिपतिविमुक्तं, यस्याग्रे पूत्क्रियते स राजा नास्तीति ॥ १६ ॥

> किं दिग्मोहमिताः किमन्ध-बधिराः किं योगचूर्णीकृताः,
>
> किं दैवोपहताः किमङ्ग! ठकिताः किं वा ग्रहावेशिताः।
>
> कृत्वा मूर्द्धिपदं श्रुतस्य यदमी दृष्टोऽकदोषा अपि,
>
> व्याघृष्टि कुपथाश्रिता न दधतेऽसूयन्ति चैवत्कृते ॥ १७ ॥

व्याख्या—किं दिङ्मोहा० ॥ अमी जडाः-मूर्खाः किं दिङ्मोह-दिग्भ्रमम् इताः-प्राप्ताः ? । किम् अन्धबधिराः-अन्धाश्च बधिराश्च, श्रवणविकलाः पादविप्रलेपादि

योग।, मञ्जनादि चूर्ण, योगचूर्णकृता:-मस्तकादिषु योगचूर्णप्रक्षेपेण वशीकृता: ?, किं दैवोपहता:-दैवेन-प्रतिकूलदैवेन किमुपहता: ?, किमङ्ग ठकिता:-'अङ्ग'ति कोमला मन्त्रणे किं ठकिता:-धूर्तेण च वञ्चिता: ? । किं वा ग्रहावेशिता: ?, ग्रहै:-व्यन्तरादिभि: आवेशिता:-अधिष्ठिता: ? । एते तत्त्व न जानन्तीति दृष्टान्ता । यत:-यस्मात् अमी सन्त: कुपथात्-कुमार्गात् व्यावृत्तिं-निवृत्तिं न दधत-न कुर्वन्ति । किं कृत्वा ? श्रुतस्य-सिद्धान्तस्य मूर्ध्नि-मस्तके पत्र-पाद कृत्वा-सिद्धान्तोक्तमविगणय्येत्यर्थ: । कथम्भूता सन्त: ? दृष्टोरुदोषा अपि, दृष्टा उरव:-गरिष्ठा दोषा यैस्ते, प्रत्यक्षतो दोषान् पश्यमाना: कुमार्गनिवृत्तिं न कुर्वन्ति अत एव दिङ्मोहादिविशेषणम् । च-पुन: एतत्कृते-कुपथव्यावृत्तिकृते पुरुषा ये असूयन्ति-ईर्ष्यां कुर्वन्ति, स्वय कुपथव्यावृत्तिं न कुर्वन्ति, ये कुर्वन्ति तेभ्यो जडा असूयन्तीति विशेषणसफलता ॥ १७ ॥

श्रुतपथावज्ञाद्वारमाह—

इष्टावाप्तितुष्टनटविटभटचेटकपेटकाकुलं,
निधुवनविधिनिबद्धदोहदनरनारीनिकरसङ्कुलम् ।
रागद्वेषमत्सरेर्ष्यो यममघपङ्के निमज्जन,
जनयत्येव मूढजनविहितमविधिना जैनमज्जनम् ॥ १८ ॥

व्याख्या—इष्टावाप्ति० ॥ अविधिना-अविधिप्रकारेण रात्रौ इत्यर्थ:, मूढ जनविहित-मूर्खलोककृत जैनमज्जनं-तीर्थकरस्नात्रम् अघपङ्के निमज्जन-पापपङ्के ब्रुडन जनयत्येव-करोत्येव । एवकारो निश्चयार्थे । किम्भूत रात्रिस्नानम् ? इष्टावाप्तितुष्टविट नटभटचेटकपेटकाकुलम्-इष्टा-वल्लभा स्त्री रात्रावागता तस्या अवाप्ति:-प्राप्तिस्तया तुष्टा-सन्तुष्टा च विटा:-वेश्यापतय:, नटा:-नाटकिन:, भटा:-सुभटा:, चेटका:-दासास्तेषां पेटकं-समुदायस्तेन आकुलम्, रात्रौ प्रायस्त समागच्छन्ति । पुन किम्भूत ? निधुवनविधि निधुवन-मैथुन तस्य विधि:-विलसित, तत्र निबद्ध-कृतो दोहद:-अभिलाषो येन सन् । एवंविध नरनारीनिकरं-मनुष्यस्त्रीवृन्द तेन सङ्कुलं-व्याप्तम् । पुन: किम्भूत ? रागद्वेषमत्सरेर्ष्यापन्नं, राग:-स्नेह:,-द्वेष:-क्रोध:, मत्सर:-क्रोधविशेष:, परगुण्यासहिष्णुता-ईर्ष्या-स्ववल्लभां परेण अवरन्तीं दृष्ट्वा क्रोधकरण, तैर्घन-निबिड पदुरुपादिविटादिसंमर्दात् रात्रौ निषिद्धं भगवत्स्नात्र पद्ममप्रभप्रभृतिस्वाप ॥ १८ ॥

जिनमतविमुखविहितमशिवाय न मज्जनमेव केवलं,
किन्तु तपश्चरित्र-दानाद्यपि जनयति न खलु शिवफलम्।
अविधि-विधिक्रमाज्जिनाज्ञापि अशुभ-शुभाय जायते,
किं पुनरिति विडम्बनैवाशिवहेतुर्न प्रतायते ॥ १९ ॥

व्याख्या–जिन० ॥ मज्जनमेव–स्नात्रमेव जिनमतविमुखविहितं–जिनमतात्–भगवन्मतात् विमुखं–विपरीतम् अविधितया विहितं–कृतं केवलं–निष्फलम् अशिवाय न किन्तु तपश्चरित्रदानाद्यपि–तप –अनशनादि, चारित्रं–देशसर्वविरतिरूप, दानम्–श्रमणा दिरूपम्, आदिशब्दात् जिनवैयावृत्यादिग्रहण, तदपि अविधिकृत खलु–निश्चित शिव फल–मुक्तिफलं न जनयति, हि–निश्चितं जिनाज्ञाऽपि–भगवदाज्ञापि अविधिविधिक्रमात्–अविधिश्च विधिश्च तयोः क्रमात् अशुभशुभाय जायते–भवति, अविधिना अशुभाय, विधिना शुभाय किं पुनरिति विडम्बनैवाशिवहेतुर्न प्रतायते, इत्यमुना प्रकारेणाऽविधि-क्रियाविडम्बना एवाशिवहेतुरशिवस्य संसारस्य हेतुः कारण किं पुनः न प्रतायते न विस्तार्यते अपितु विस्तार्यत एव एतावता अविधिक्रिया विडम्बना एव अशिवहेतुश्च कथ्यत एव ॥ १९ ॥

जिनगृह–जिनबिम्ब–जिनपूजन–जिनयात्रादि विधिकृतं
दानतपोव्रतादिगुरुभक्तिश्रुतपठनादि चादृतम्।
स्यादिह कुमतकुगुरुकुग्राहकुबोधकुदेशनांशतः,
स्फुटमनभिमतकारि वरभोज्यमिव विषकणनिवेशतः ॥ २० ॥

व्याख्या–जिन० ॥ जिनगृह–जिनभवन, जिनबिम्ब–भगवत्प्रतिमा, जिन पूजन–भगवत्पूजा, जिनयात्रा–अष्टाह्निकादिमहोत्सवः, आदिशब्दाज्जिनप्रतिष्ठादिग्रहः, एव धर्मकृत्यं विधिकृत–शास्त्रोक्तप्रकारेण विहितं दानम्–अभयदानादि, तपः–द्वादश प्रकारं, व्रतानि–स्थूलप्राणातिपातविरमणानि, आदिशब्दात् अभिग्रहादिः, गुरुभक्तिः–धर्माचार्यभक्तिः, श्रुतपठन–सिद्धान्तपठनम्, आदिशब्दात् सिद्धान्तार्थश्रवणादिग्रहणं, च पुनः आदृतम्–आदरेण कृतम्, एतत्सर्वम् इह–प्रवचने कुमत–कुगुरु–कुग्राह–कुबोध कुदेशनांशतः–कुमत–परतीर्थिकमत, कुगुरुः–सिद्धान्तार्थमोटकः, कुग्राहः–कदाग्रहः, कुबोधः–कुत्सितज्ञान, कुदेशना–कुधर्मरूपा तासाम् अंशः–लेशस्तस्मात्, स्फुटं–प्रकटम्, अनभिमतकारि–अनिष्टकारि संसारकारण स्यात्। दृष्टान्तमाह–विषकणनिवेशतो वर

मोचनमिव, यथा विपलयप्रवेशेन वरमोसन-प्रधान मोक्षमपि अनिष्टकारि तथा विधि धर्मकृत्यमपि कुमतिकुगुर्वादिदेशनाभिमिर्दं संसारकारणमिति ॥ २० ॥

आकर्ष्टुं मुग्ध-मीनान् बडिशपिशितवद्विम्बमादर्श्य जैनं,
तन्नाम्ना रम्यरूपानपवर-कमठान् स्वेष्टसिद्ध्यै विधाप्य ।
यात्रा-स्नात्राद्युपायैर्नमसितक-निशाजागरादिच्छलैश्च,
श्रद्धालुर्नाम जैनैश्छलित इव शठैर्वञ्च्यते हा ! जनोऽयम् ॥ २१ ॥

व्याख्या-आकर्ष्टुं० ॥ नाम जैनैः-नाममात्रेण जैना नामजैनास्तैः-लिङ्गधारिभिः 'हा' इति खेदे अयं श्रद्धालुर्जनः-श्रावकजनो वञ्च्यते-परामृश्यते । कथम्भूतैर्नामजैनैः ? शठैः-धूर्तैः । कथम्भूतः श्रद्धालुः ? छलित इव-व्यन्तराधिष्ठित इव प्रथिल इव । छलनप्रकारमाह-मुग्धमीनान्-मूर्खमत्स्यान् आकर्ष्टुं-आकर्षितुं बडिशपिशितवत्-बडिश-मत्स्यग्रहणाय लोहकण्टक, तत्रपिशित-मांसखोण्ड तद्वत् जैनं बिम्बं-जिनप्रतिमां आदर्श्य-दर्शयित्वा, यथा, मांसखण्डेन मत्स्या वशीक्रियन्ते तथा मुग्धप्रतारणाय तैरपि जैनबिम्बं दर्शितम् । ननु जिनबिम्बस्य कथं बडिशपिशितोपमा ? उच्यते-अविधिप्ररूपितस्य हीनाचारिप्रतिष्ठितस्य पुस्तकेव न तु विधिप्रतिष्ठितस्य । पुनः किं कृत्वा ? तन्नाम्ना-जिननाम्ना रम्यरूपान्-मनोहरस्वरूपान् अपवरकमठान्, अपवरकाः-अन्तर्निलया मठाः-स्थानविशेषास्तान् विधाप्य-कारप्य, कस्यै ? स्वेष्टसिद्ध्यै-स्वस्येष्टसाधनाय, 'अस्माकमिष्टं भविष्यता'-मिति सिवेम भगवद्भाण्डागारमठादिनिर्मापण कारयन्ति । ते पुनः कैः श्राद्धान् छलन्ति ? यात्रास्नात्राद्युपायैः, यात्रा-पूर्वश्राद्धुरेशेन जिनगृहे यात्रा स्नात्रं च कर्तव्यम्, आदिशब्दात् भुवानुकपर्वग्रहः, एवंप्रकार उपायः-मिषः, तैः । पुनः नमसितकनिशाजागरादिच्छलैश्च, नमसितकजिनादीन् उद्दिश्य द्रव्ये सितस्थकरणम् उपद्रवनिवृत्तये इयत् द्रव्य व्ययामीति नियमाकरणं निशाजागरो-रात्रिजागरणम् आदिशब्दात् शान्तिकपौष्टिकादिग्रहः, एतच्छलैश्च-एतत्प्रकारं दर्शयित्वा जनान् वञ्चयन्ति । अनेन काव्येन अविधिजिनबिम्बयात्रास्नात्रनमसितकनिशाजागरण निषिद्धं, विधिना तु सर्वं कर्तव्य, तत्कर्तव्यस्य सप्तमकाव्ये विंशतितमकाव्ये पूर्वोक्ते स्थापितत्वादिति ॥ २१ ॥

सर्वत्रारयगिताक्षणाः स्वविषयव्यासक्तसर्वेन्द्रियाः,
यस्माद्गौरवचण्डवण्डतुरगाः पुण्यस्कपामोरगाः ।

सर्वाकार्यकरोऽपि कष्टमपुनान्त्याश्चर्यराज्याश्रिताः,
स्थित्वा सन्मुनिमूर्धसूद्धतधियस्तुष्यन्ति पुष्यन्ति च ॥ २२ ॥

व्याख्या–सर्व० ॥ अहो ! कष्टं एवंविधा हीनाचारिणोऽधुना स मुनिमूर्धसु–सत्सा धुमस्तकेषु स्थित्वा तुष्यन्ति–तोषं प्राप्नुवन्ति, च पुनः पुष्यन्ति–वर्धन्ते । कथम्भूताः (हीनाचारिणः) ? सर्वत्र अस्थगितास्रवाः–अनाच्छादितास्रवाः । पुनः किम्भूताः ? स्वविषयेषु–भारसारमविषयेषु व्यासक्तानि–व्यापारितानि सर्वेन्द्रियाणि–स्पर्शनादीनि यैस्तैः । पुनः किम्भूताः ? चलगन्धाः–उच्छलन्तः गौरवैः शातादिभि चण्डा–रौद्रा दम्भा–मनोदम्भादिकास्तुरगा येषां ते दम्भानां चपलत्वात्तुरगोपमानम् । पुनः कथम्भूताः ? पुष्यत्कषायोरगाः, पुष्यन्तः–प्रवर्धमानाः कषायोरगाः–कषायसर्पा येषां ते । पुनः किम्भूताः ? सर्वाकरयकृत्योऽपि–सर्वाकार्यकारका अपि । पुनः किम्भूताः ? अन्त्याश्चर्य राज्याश्रिताः, अन्त्यमाश्चर्यम्–असंयतपूजालक्षणं तदेव राज्यं तदाश्रिताः । पुनः किम्भूताः ? उद्धतधियः–उत्कटबुद्धयः ॥ २२ ॥

सर्वारम्भपरिग्रहस्य गृहिणोऽप्येकाशनाद्येकदा,
प्रत्याख्याय न रक्षितो हृदि भवेत्तीव्रोऽनुतापस्तदा ।
षट्कृत्वस्त्रिविधं त्रिधैवमनुदिनं प्रोच्यापि भञ्जन्ति ये,
तेषां तु क तपः क सत्यवचनं क ज्ञानिता क व्रतम् ? ॥ २३ ॥

व्याख्या–सर्वा० ॥ सर्वारम्भपरिग्रहस्य–सकलसावद्यव्यापारधनधान्यादिमूर्च्छा-युतस्य गृहिणोऽपि–गृहस्थस्य एकाशनादि–एकवारमशनं यत्तत् एकाशनं तदादिर्य स्य तत् एकाशनादि, आदिशब्दात् निर्विकृतिकादि प्रत्याख्यानम् एकदा–पर्वादिदिवसे प्रत्याख्याय–कृत्वा कदाचित् विस्मरणेन न रक्षितस्तस्य रक्षणं न कृतं चेद् भग्नः स्यात्तदा हृदि तीव्रोऽनुतापः–पश्चात्तापो भवेत्–' अहो ! मया मन्दभाग्येन प्रत्याख्यानं भग्नम् ' । ये हीनाचारिणः षट्कृत्वः–षड्वारान् त्रिवारं–सन्ध्याप्रतिक्रमणे त्रिवारं प्रातः प्रतिक्रमणे इति त्रिविधं, त्रिधा–मनोवाक्कायैः–करणकारणानुमतिवर्जनेनेति, अनुदिनं–निरन्तरं प्रोच्य–मुखे उच्चार्यापि भञ्जन्ति तेषां तपः क ?, सत्यवचनं क ?, ज्ञानिता क ?, व्रतं क ? अपि तु न कथञ्चित् ॥ २३ ॥

वेषार्थेऽभ्यवतो यथारुचिकृते सर्वर्तुरम्ये मठे,
नित्यस्थाः शुचिपट्टतूलशयनाः सद्गब्दिकासनाः ।

सारम्भाः सपरिग्रहाः सविषयाः सेर्ष्याः सकाङ्क्षाः सदा,
साधुव्याजविटा अहो ! सितपटाः कष्टं चरन्ति व्रतम् ॥ २४ ॥

व्याख्या—देवा० ॥ अहो ! इति आश्चर्ये सितपटाः-श्वेताम्बराः व्रत कष्टं-दुःखतया चरन्ति-समाचरन्ति। किम्भूताः ? मठे-स्वस्थाने नित्यस्थाः-नित्यवासिनः। कथम्भूते मठे ? देवार्थव्ययतः-देवद्रव्यव्ययात् यथारुचिकृते-स्वेच्छया विरचिते, ते स्वेच्छाचारिणो देवद्रव्यं स्वस्थानेषु लगयन्ति। पुनः कथम्भूते ? सर्वर्तुरम्ये-अनेक जालिकागवाक्षादिकरणे षड्ऋतुमनोहरे। पुनः किम्भूतास्ते ? शुचयः-पवित्रा याः पट्टतूल्यो-हंसरुतादिमयाः शय्याविशेषास्तत्र शयनाः। पुनः किम्भूताः ? सद्गन्धिका वासना-प्रधानगन्धिकावासनाः, जातिफलकर्पूरान्यसरकादिग्रहः। पुनः किम्भूताः ? सारम्भाः-आरम्भसहिताः। पुनः किम्भूताः ? सपरिग्रहाः-परिग्रहेण सहिताः, पुनः किम्भूताः ? सविषयाः विषयः पञ्चप्रकारस्तेन सहिताः। पुनः सेर्ष्याः, सहईर्ष्यया वर्तन्त इति सेर्ष्याः। पुनः किम्भूताः ? सदा-निरन्तरं सकाङ्क्षाः, सहकाङ्क्षया-द्रव्यादि वाञ्छया वर्तन्ते ये ते सकाङ्क्षाः। पुनः साधुव्याजेन-साधुच्छलेन विटाः-लम्पटा इव, दुराचारदर्शनेन तेषां निन्दनम् ॥ २४ ॥

इत्याद्युद्भटसोपहासवचसः स्युः प्रेक्ष्य लोकाः स्थितिं,
श्रुत्वाऽप्येऽभिमुखा अपि श्रुतपथाद् वैमुख्यमातन्वते।
मिथ्योक्त्या सुदृशोऽपि बिभ्रति मनः सन्देहदोलाचलं
येषां ते ननु सर्वथा जिनमतप्रत्यर्थिनोऽमी ततः ॥ २५ ॥

व्याख्या—इत्या० ॥ लोकाः-परतीर्थिकादयः स्थितिं-हीनाचारिसामाचारी प्रेक्ष्य-विलोक्य इत्याद्युद्भटसोपहासवचसः, इत्यादिपूर्वोक्तविटादिप्रकारेण उद्भटानि-उत्कटानि सोपहासानि-हास्यसहितानि वचांसि येषां ते, एवंविधाः स्युः-भवेयुः, हास्य कुर्वन्तीत्यर्थः। अन्ये केचन तथाचारं श्रुत्वा अभिमुखा-सम्मुखा वाऽपि श्रुतपथात्-सिद्धान्तमार्गात् वैमुख्य-पराङ्मुखत्वम् आतन्वते-भजन्ते। येषां हीनाचारिणां मिथ्योक्त्या-मिथ्याभाषणेन अहो! अमी अन्यथावादिनोऽन्यथाकारिणः, इतिरूपेण सुदृशोऽपि-सम्यग्दृशोऽपि पुरुषाः मनःसन्देहदोलाचलं बिभ्रति-धारयन्ति, सन्देह एव दोला तया चलम्, 'इद सत्यमिद वा सत्य'-मिति सन्देहास्पदं मनः स्यात्, ननु-निश्चित तेऽमी-चैत्यवासिनः ततः-तस्मात्सर्वथा जिनमतप्रत्यर्थिनः-जिनमतवैरिणः ॥ २५ ॥

सर्वैस्कटकालकूटपटलैः सर्वैरपुण्योच्चयैः,
सर्वैर्व्यालकुलैः समस्तविधुराधि–व्याधि–दुष्टग्रहैः ।
नूनं क्रूरमकारि मानसममु दुर्मार्गमासेदुषां,
दौरात्म्येन जिनप्लुतां जिनपथ वाचैवसेस्मुषाम् अतः ॥ २६ ॥

व्याख्या–सर्वै० ॥ अमु–प्रसिद्धं चैत्यवासिभिरिहित दुर्मार्गम् आसेदुषां–सेव्य मानानां मानसं–चित्त नूनं–निश्चित क्रूरम् अकारि–कृतम् । कैः क्रूरं कृतं ? तदाह–सर्वैस्कटकालकूटपटलैः–भस्मप्रसयोघातिविषसमूहैः, सर्वैः–समस्तैः अपुण्योच्चयैः–पापराशिभिः । पुनः सर्वव्यालकुलैः–समस्ताशीविषसमूहैः । पुनः समस्तविधुराधि व्याधिदुष्टग्रहैः, सर्वं विधुरं–कष्टम्, आधिः–मानसी पीडा, व्याधिः–रोगः दुष्टग्रहास्तैः । एतैः पुञ्जरूपैर्महादुष्टं तेषां मनः कृतम् । कथम्भूतानां तेषां ? दौरात्म्येन–दुष्टात्मत्वेन जिनपथ–जिनमार्गं निश्चस्तुतास्–उच्छेत्तुकामानाम् । पुनःकिम्भूतानां ? वाचा–वाण्या 'एष एः स मार्गः ' इत्यूर्ध्वा–कथयितॄणां दुर्मार्गमपि सुमार्गतया प्ररूपकाणामिति ॥ 'अतः' इति भिन्नपदम्–अस्मात्कारणात् ॥ २६ ॥

तत्र कारणमाह—

दुर्भेदस्फुरदुग्रकुग्रहतमःस्तोमास्तधी चक्षुषां,
सिद्धान्तद्विषतां निरन्तरमहामोहाहम्मानिनाम् ।
नष्टानां स्वयमन्यनाशनकृते बद्धोद्यमानां सदा,
मिथ्याचारवतां वचांसि कुरुते कर्णे सकर्णः कथम् ॥ २७ ॥

व्याख्या–दुर्भेद० ॥ मिथ्याचारवतां मिथ्या–विपरीत आचारो येषां ते मिथ्याचारवतस्तेषां हीनाचारिणां वचांसि–वाक्यानि सकर्णो–विद्वान् कर्णे कथ केन प्रकारेण कुरुते अपितु हीनाचारि धर्मोपदेशवाक्यमपि न श्रोतव्यं कथंभूतानां दुर्भेद० दुर्भेदो–दुरुच्छेदः स्फुरन्–दीप्त उग्र–उत्कटो यः कुग्रहः–कदाग्रहः सएव समस्तमोऽन्धकार–पटल तेन अस्त आच्छादितं धीचक्षु–ज्ञानलोचन येषां ते । पुनः कथंभूतानां सिद्धांत द्विषतां–सिद्धांतवैरिणां पुनः कथं भूतानां निरंतरमहामोहाम्–निरंतरमहामोहनीय–कर्मणः सकाशात् अहमानिनां–अभिमानवतां पुनः किं स्वयमात्मनानष्टानां–भ्रष्टानां पुनः कथभूतानां सदा अन्य नाशनकृतेऽन्यभ्रंशकरणाय बद्धोद्यमानां–कृतोद्यमानां स्वयं नष्टोऽन्याभावयति इति अतएव तेषां वचो न श्रोतव्यमिति ॥ २७ ॥

यत्किञ्चिद्वितथं यदप्यनुचितं यल्लोकलोकोत्तरो–
त्तीर्णं यद् भवहेतुरेव भविनां यच्छास्त्रबाधाकरम् ।
तत्तद्धर्म इति ब्रुवन्ति कुधियो मूढास्तदङ्गीकृत,–
भ्रान्त्या यान्ति च हा ! दुरन्तदुःषमासाम्राज्यस्य विस्फूर्जितम् ॥ २८ ॥

व्याख्या—यत्किञ्चि० ॥ कुधियः–कुपण्डितास्तत् वस्तु धर्मरूपतया ब्रुवन्ति, तत्किं ? यत् किं तत्राह–यत् किंचित् वितथं अलीकं श्रेणिकराजनरकोद्धरणवदनादि यदपि अनुचितं अयोग्यं पितापुत्रादेशेन यात्राकरणादि अथवा जिनमन्दिरे लकुटक्रीडादिकमयोग्यं, यत् लोकलोकोत्तरोत्तीर्णं–लोकलोकोत्तरमार्गात् उत्तीर्णं यथा मृतकगृहे भिक्षाग्रहणादि रजस्वलापूजा, हीनजातिभ्यः परमेष्ठिमन्त्रपाठनं दीक्षणं जैनेन्द्रप्रतिमाकारणं च, तथा यद् भविनां–भव्यानां भवहेतुः–संसारहेतुः । एवं निश्चयेन जिनमन्दिरे जलक्रीडादि यत् शास्त्रस्य बाधाकरं–सिद्धान्तविरुद्धम् आधाकर्मभोजनादि । अथ श्रावणाधिक्ये पर्युषणाया अशीतितमेऽह्नि विधानम्, इत्यादि धर्मतया प्ररूपयन्ति मूढाः–मूर्खास्तद् अङ्गीकृतभ्रान्त्या–भगवन्मतभ्रमेण यान्ति–स्वीकुर्वन्ति शुक्तिशकले रजतवत् । 'हा' इति खेदे दुरन्तदुःषमासाम्राज्यस्य–दुष्टासंयतपूजालक्षणस्य विस्फूर्जित–विलसितं पश्यतेति ॥२८॥

कष्टं नष्टदिशां नृणां यदृशां जात्यन्धवैदेशिकः,
कान्तारे प्रदिशत्यभीप्सितपुराध्वानं किलोत्कन्धरः ।
एतत्कष्टतरं तु सोऽपि सुदृशः सन्मार्गगांस्तद्विदः,–
स्तद्वाक्याननुवर्तिनो हसति यत्तानप्रमत्तानपि च ॥ २९ ॥

व्याख्या—कष्टं० ॥ यस्मात्कारणात् किलेति सत्येन नृणां–मनुष्याणां जात्यन्धवैदेशिकः, जात्या–जन्मना अन्धः–नेत्रविकलः, स चासौ वैदेशिकः–विदेशोत्पन्नः । एवम्भूतः कश्चित् कान्तारे–अटव्याम् अभीप्सितपुराध्वानम्, अभीप्सितस्य–इष्टस्य पुरस्य अध्वानं–मार्गं प्रदिशति दर्शयति तत्कष्टम् । कथम्भूतानां नृणां ? नष्टदिशां–दिङ्मूढानाम् । पुनः कथम्भूतानाम् ? अदृशां–दृष्टिविकलानामन्धानाम् कथम्भूतो जात्यन्धवैदेशिकः ? उत्कन्धरः–ऊर्ध्वीकृतग्रीवः, यो मार्गं दर्शयति स ग्रीवामूर्ध्वां करोति । तु–पुनः एतत् कष्टतरम्–अतिशयेन कष्टं, तदाह–सोऽपि जात्यन्धवैदेशिकः यत्–यस्मात् सुदृशः–सुनेत्रान् पुरुषान् हसति तत्कष्टतरम् । कथम्भूतान् सुदृशः ? सन्मार्गगान्–शोभनमार्गगमनशीलान् । पुनः कथम्भूतान् ? तद्विदः–शोभनमार्गगमनज्ञान् पुनः कथम्भूतान् ? तद्वाक्याननुवर्तिनः, तद्वाक्य–जात्यन्धवाक्ये अनुवर्तिनः–

न प्रवर्तकास्तान्। कथं हसति? तत्राह—सावद्य-साहङ्कारम् अज्ञानिव-मूर्खानिव, यथा मत्ता हसन्ति तथा सोऽपि हसति-अहो! महाभयेन गच्छति। एतत्तु कष्टतरं पथस्य मार्गदर्शनं तत्तु कष्टम् ॥ २९ ॥

सैषा हुण्डावसर्पिण्यनुसमयहसद्भूव्यभावानुभावा,—
त्रिंशद्भोमग्रहोऽयं खखनलमितवर्षस्थितिर्भस्मराशिः ।
अन्त्यं चाश्चर्यमेतज्जिनमतहतये तत्समा दुष्षमा चे,—
त्येवं दुष्टेषु पुष्टेष्वनुकलमधुना दुर्लभो जैनमार्गः ॥ ३० ॥

व्याख्या—सैषा० ॥ सा एषा-प्रत्यक्षा हुण्डावसर्पिणी-हुण्डसंस्थानेन सहिताऽवसर्पिणी-एतत्कालः। कथम्भूता? अनुसमयहसद्भूव्यभावानुभावा, अनुसमयं-प्रतिसमयं हसन्तः-हीयमानाः भव्याः-प्रधानाः, भावाः-पदार्थास्तेषामनुभावः-प्रभावो यस्यां सा-अनुसमयहसद्भूव्यभावानुभावा। च-पुनः त्रिंशः-त्रिंशत्तमोऽयं भस्मराशिरुग्रग्रहः-उत्कटग्रहः। कथम्भूतः? एकराशौ ख-ख नलमितवर्षस्थितिः, खं खं-शून्यं शून्यं नलाः विंशतिस्तैर्मित(२०००) वर्षस्थितिः-ग्रहाणां वक्रगत्या द्विसहस्रवर्षस्थितिः। च-पुनः एतत्-प्रत्यक्षम् अन्त्यमाश्चर्यम्-असंयतपूजालक्षणं तत्समा-पूर्वोक्तत्रिवैरितुल्या, दुष्षमाकालमेव:, जिनमतहतये-जिनमतहानिकरणाय, इत्येवं चतुर्षु दुष्टेषु-खलेषु अनुकलं-निरन्तरं पुष्टेषु सत्सु अधुना जैनमार्गो दुर्लभः। एकस्यापि वैरिणः योगे साधुवृत्तिर्न कथं चतुःसंयोगे जैनमार्गे इति? ॥ ३० ॥

अथ गुणिद्वेषपरीहारं दर्शयति—

सम्यग्मार्गेषुषः प्रशान्तवपुषः प्रीतोल्लसच्चक्षुषः,
श्रामण्यर्द्धिमुपेयुषः स्मयमुषः कन्दर्पकक्षप्लुषः ।
सिद्धान्ताध्वनि तस्थुषः शमयुषः सत्पूरुषतो जग्मुषः,
सत्साधून् विदुषः खलाः कटुदृशः क्षाम्यन्ति नोपद्रुषः ॥ ३१ ॥

व्याख्या—सम्यग् ॥ खला-दुर्जनाः चैत्यवासिनः सत्साधून्-शोभनानगारान् न क्षाम्यन्ति। कथम्भूतान्? सम्यग्मार्गेषुषः-शुद्धमार्गपोषकान्। पुनः किंविशिष्टान्? प्रशान्तवपुषः-प्रशान्तस्वरूपशरीरान्। पुनः कथम्भूतान्? प्रीते उल्लसन्ती चक्षुषी येषां ते तान्। पुनः किम्भूतान्? श्रामण्यर्द्धिचारित्रसमृद्धिमुपेयुषः-प्राप्तवन्तः। पुनः किम्भूतान्? स्मयमुषः, स्मयम्-अहङ्कारं मुष्णन्तीति अहङ्कारतिरस्कारिणः पुनः

किम्भूतान् ? कन्दर्पकक्षप्लुषः-कन्दर्प एव कक्षं-शुष्कतृणं तं प्लुषन्ति-दहन्ति ये तान्। पुनः किम्भूतान् ? सिद्धान्ताध्वनि-सिद्धान्तमार्गे तस्थुषः-स्थितवन्तः। प्रशमयुषः-उपशमयुक्तान्। पुनः किम्भूतान् ? सत्पूज्यतां-सिवक्रिपूज्यत्वं जग्मुषः-प्राप्तान्। पुनः विदुषः-दक्षान्। अथ कीदृशाः खलाः ? कृतदुषः-विहितदोषाः। पुनः किम्भूताः ? उद्यद्रुषः,उद्यन्-प्रकटीभवन् रुष-रोषो येषां ते, एवम्भूता, गुणिषु द्वेष वहन्त्येव ॥२१॥

देवीयत्युरुदोषिणः क्षतमहादोषानदेवीयति,
सर्वज्ञीयति मूर्खमुख्यनिवहं तत्त्वज्ञमज्ञीयति।
सन्मार्गीयति जैनमार्गमपथं सम्यक्पथीयत्यहो ?,
मिथ्यात्वप्रहिलो जनः स्वमगुणाग्रण्यं कुवार्गीयति ॥ २२ ॥

व्याख्या—देवी० ॥ 'अहो ?' इत्याश्चर्ये मिथ्यात्वप्रहिलो जनः-मिथ्यात्वेन गर्वीभूतो लोकः, एवं कुरुते, तत्राह-उरुदोषिणः-प्रबलदोषयुक्तान् देवीयति-देवतया मन्यते। अथ क्षतमहादोषान्, क्षताः-(वि)नाशिता महादोषा यैस्तं तान् वीतरागान् भ्रमत्वेन अदवीयति-देवतया नाङ्गीकरोति, पुनः मूर्खमुख्यनिवहं-मूर्खप्रधानसमूहं सर्वज्ञीयति-सर्वज्ञतया मन्यते, तत्त्वज्ञ-तत्त्वज्ञातारम् अज्ञीयति-अज्ञतया मन्यते। जैनमार्गम् मार्गीयति । पुनः अपथ-कुमार्गं सम्यक् पथयति-सुमार्गतया मन्यते। अगुणैरग्रण्यं-निर्गुणप्राधान्यं स्वम्-आत्मानं कुवार्गीयति-गुणवत्तया मन्यते ॥ २२ ॥

सङ्ख्याकृतचैत्यकूटपतितस्यान्तस्तरां ताम्यत,-
स्तन्मुग्धाशयपाशबन्धनवतः शक्तस्य न स्पन्दितुम्।
मुक्त्यै कल्पितदानशीलतपसोऽप्येतत्क्रमस्थायिनः,
सङ्घव्याघ्रवशस्य जन्तुहरिणव्रातस्य मोक्षः कुतः ? ॥ २३ ॥

व्याख्या—सङ्ख्या० ॥ जन्तुहरिणव्रातस्य, जन्तवः-प्राणिनो भव्यास्त एव हरिणाः-मृगास्तेषां व्रात-समूहस्तस्य-भव्यजनमृगसमूहस्य मोक्षः-मुक्तिः कथमपि तु न। कथम्भूतस्य जन्तुहरिणव्रातस्य ? सङ्घव्याघ्रवशस्य, सङ्घ-हीनाचारिसमुदायः, स एव व्याघ्रः-मृगारिस्तद्वशस्य-भक्षीभूतस्य। यथा व्याघ्र-वशस्य हरिणस्य मोक्षः-छुटनं न तथा कुसङ्घव्याघ्रवशस्य भव्यहरिणस्य मुक्तिगमनं न। कथम्भूतस्य जन्तुहरिणव्रातस्य ? सङ्ख्याकृतचैत्यकूटपतितस्य, सङ्घस्य-लिङ्गिसमुदायस्य दानाय कृतानि सङ्घाकृतानि यानि चैत्यानि-जिनभवनानि भावकैर्निर्माप्य लिङ्गिभ्यो दत्तानि, इष 'श्रा' प्रत्ययः,

तान्येव-चैत्यान्येव कूटाः हरिणबन्धनयन्त्राणि तत्र पतितस्यान्यस्य मृगस्य कूटे पतितस्य मोक्षः कष्टेन। पुनः कथम्भूतस्य? तराम्-अत्यर्थम् अन्तः-मध्यहृदये ताम्यतः-खेदं कुर्वतः 'कदाक्षुटिष्येऽह'-मिति खिद्यमानस्य। पुनः कथम्भूतस्य? तन्मुद्राद्वढपाशबन्धनवतः, तस्य कुसङ्गस्य मुद्रा-मर्यादा 'असमक्षेस्य एव समागन्तव्य'-मिति, सैव दृढः-निबिडो यः पाशस्तस्य बन्धनं यस्य स तस्यान्यस्य हरिणस्य दवरिकादिनिर्मितप्रविविडप्र पाशे पतितस्य मोक्षो नेति। पुनः किम्भूतस्य? स्पन्दितु-चलितु न शक्तस्य-अ समर्थस्य। पुनः किम्भूतस्य भव्यजन्तोः? मुक्त्यै-मुक्त्यर्थं कल्पितदानशीलतपसोऽपि, कल्पितम्-आचरितं स्वबुद्ध्या दानं शीलं तपो येन तस्य, यद्यपि तपःप्रभृति मुक्त्यर्थं करोति तथापि न मोक्षः। पुनः कथम्भूतस्य? एतत्क्रमस्थायिनः, एतस्य-कुसङ्गस्य यः क्रमः-परम्परा तत्र स्थायिनः। हरिणपक्षे एतस्य मृगस्य प्रहारार्थं सज्जितः क्रमः-चरणस्तत्र स्थायिनः पादपतितस्येत्यर्थः॥ २३॥॥ इति कुगुरुदशकं व्याख्यातम्॥

पुनरप्याह—

इत्थं मिथ्यापथकथनया तथ्ययाऽपीह कश्चिन्-
मेदं प्रासीदनुचितमको मा कुप्यत्कोऽपि यस्मात्।
जैनभ्रान्त्या कुपथपतितान् प्रेक्ष्य नृस्तत्प्रमोहा,-
पोहायेदं किमपि कृपया कल्पितं जल्पितं च॥ २४॥

व्याख्या-इत्थ०॥ इत्थम्-अमुना प्रकारेण तथ्ययाऽपि-सत्ययाऽपि मिथ्यापथकथनया, मिथ्यापथस्य-हीनाचारिमार्गस्य कथना-प्रकटना तया, इह प्रवचने कश्चिज्जन्तुर्जिनशासनस्थः मा इदं प्रासीत्, यदिदं परदोषोद्घाटनम् अनुचितम्-अयोग्यम्। अथो-अथवा कोऽपि-कश्चिदपि मा कुप्यत्-मा कुप्यतु यत् 'किमनेन रागद्वेषवाक्येने'-ति कोपं-द्वेषं मा करोतु यस्मात्कारणात् जैनभ्रान्त्या-जैनमार्गभ्रमेण कुपथपतितान् कुपथे हीनाचारिप्ररूपिते पतितान् नृन्-नरान् प्रेक्ष्य अथ तत्प्रमोहापोहाय, तेषां-जन्तूनां प्रमोहः-अज्ञानं तस्यापोहः-निराकरणं तस्मै, तन्मोहनिराकरणाय इदं-प्रत्यक्षं किमपि किञ्चिन्मात्रं कृपया-दयया 'अहो! अमी वराकाः कथं भविष्यन्ती?' ति कृपया कल्पितं-प्रोक्तं च-पुनर्जल्पितं-प्रजल्पनया प्रारब्धं न तु रागद्वेषाभ्यामिति॥ २४॥

तत्र कारणमाह—

प्रोद्भूतेऽस्मन्त्कालास्कठिमकलिमये नाम नेपथ्यतोऽर्हन्,
मार्गभ्रान्ति दधानेऽत्र च तदभिमरे तस्ततोऽस्मिन् दुरन्ते।

कारुण्यात् च कुबोध नृषु निरसिसिषुर्दोषसङ्ख्यां विवक्षेत्,
दम्भोऽम्भोधेः प्रमित्सेत् स सकलगगनोल्लङ्घनं वा चिचिरक्षेत् ॥ २५ ॥

व्याख्या-मोहू० ॥ यः पुरुषः अस्मिन् दुरध्वे-कुष्टमार्गे हीनाचारिप्ररूपिते दोषसङ्ख्याम्-इयत्तया दोषपरिमाणं विवक्षेत्-वक्तुमिच्छेत् स पुरुषः अम्भोधेः-समुद्रस्य अम्भः-जलं प्रमित्सेत्-प्रमातुमिच्छेत् वा-अथवा सकलगगनोल्लङ्घनं-समस्ताकाशस्य पद्भ्यामुल्लङ्घनं चिचिरक्षेत्-कर्तुमिच्छेत् । यथा समुद्रमलमानम् आकाशलङ्घनं कर्तुम शक्यं तथा हीनाचारिदोषसङ्ख्या वक्तुं न पार्यत इति । कथम्भूतः ? यः कारुण्यात्-दयातो नृषु-नरेषु कुबोध-कुतत्त्वज्ञान निरसिसिषुः-मक्तुमिच्छुः । कथम्भूते दुरध्वे ? अनन्तकालात्-अनन्तकालेन प्रोद्भूते-संजाते । पुनः किम्भूते ? कलिमलनिलय-पाप स्थाने । पुनः किम्भूते ? नामनपथ्यतः, नाम्ना नेपथ्यं-वेषस्तस्मात् नाममात्रवेष धारकयोरर्हन्मार्गभ्रान्ति दधाने 'अहो ! अमी वेषमात्रधारका अपि साधवः' इति भ्रान्ति विधायके । अथ च-पुनरपि तत्त्वतः-परमार्थतः-तदभिमरे, तस्य-अर्हन्मतस्य अभिमरे-घातके चौरप्राये, यथा चौराः प्रच्छन्नवृत्त्या वेषपरावर्तेन राजादिकं अपि तथा एतेऽपि लिङ्गमात्रधारकत्वेनार्हन्मार्गघातका एवेति ॥ २५ ॥

न सावद्याम्नाया न बकुश-कुशीलोचितयति,
क्रियामुक्ता मुक्ता न मद-ममता-मात्सर्ययैः ।
न संक्लेशावेशा न कदभिनिवेशा न कपट,-
प्रिया ये तेऽद्यापि स्युरिह यतयः सूत्ररुचयः ॥ २६ ॥

व्याख्या-न सा० ॥ ते अद्यापि-साम्प्रतमपि इह-जिनशासने यतयः-साधवः स्युः च एवंविधाः । किम्भूताः ? न सावद्याम्नायाः, सावद्या-सपापः आधाकर्म-भोजनादिरूपम् आम्नायः-परम्परा येषां ते तथा चैत्यवासाद्याम्नायवन्तो च नैस्यप्यः । पुनः किम्भूताः ? बकुशकुशीलोचितयति-क्रियामुक्ता न, बकुश-शबलम् अतिचारपङ्केन चारित्रं येषां ते बकुशाः, कुत्सितं शीलं-चरणं येषां ते कुशीलाः, तयोरुचिता-योग्या या यतिक्रिया-साधुसामाचारी तया मुक्ता-वियुक्ता न ये तादृशू बकुशकुशीलक्रियावन्तस्ते अधुना सुसाधव एव, "बकुशकुशीले हिं पवयपरिसित्य" इतिवचनात् । अत्र पञ्च निर्ग्रन्थाः-बकुश-कुशील-पुलाक-निर्ग्रन्थ-स्नातकभेदात् । बकुशा द्विविधा उपकरण-देहभेदात् । ये वर्षे प्रस्पासत्तिमन्तरणापि कदाचित् वस्त्रादिकं धावति सस्या र्धक्कादि विभूषन्ति, कदाचिस्परिदधते, पात्रदण्डकाद्यपि घृष्टेलादिभक्ष्योत्पादित

वैमस्क च धारयन्ति, उपकरणमप्यतिरिक्तं चार्थयन्ते ते उपकरणबकुशाः । ये कारणं नखादीन् कदाचिन्निमित्तं भूषयन्ति ते देहबकुशाः । इमे द्विविधा अपि शिष्यादि परिवारादिकां विभूतिं तपःपाण्डित्यादिप्रभवं च यशः प्रार्थयन्ते, प्रमोदन्ते छेदार्हैश्चाति चारैर्बहुभिः शबलिता अपि कर्मक्षयार्थमुद्यता इत्यादि । कुशीलो द्विविधः आसेवना कषायभेदात्, ये ज्ञानदर्शनचारित्रतपांसि किञ्चिदुपजीवन्ति ते आसेवनाकुशीलाः, ये क्रोधादिभिः कषायैः-ज्ञानादिगुणान् विराधयन्ति ते कषायकुशीलाः मूलोत्तरगुणविराधकाश्च पञ्चनिर्ग्रन्थमध्ये केऽपि । पञ्चानां विस्तरतः स्वरूपं श्री भगवतीसूत्रादिभ्यश्च ज्ञेयम् । ननु ये एवं शिथिलक्रियायुक्ताः कर्तितकेशा उपकरणधारकाः मूलोत्तरगुणविराधकास्ते निर्ग्रन्थाः कथं तेषां स्वरूपं केन प्रकारेण ? इति चेदुच्यते-एतेषां कर्तव्यता तावत् प्रवाह मार्गेण नास्ति किन्तु कदाचिन्महति कारणे जाते धावनादिका क्रिया, इति, मूलगुण विराधनं च मनश्च विराधनादिप्रकारेणेति रहस्यं सदा तत्कर्तव्यता नास्तीति ॥ पुनः किम्भूताः ? मदममताजीवनभयैः, मदो-गर्वः, ममता-प्रतिबन्धः, आजीवनभय मिथाया जीविकाभयं, तैर्मदममताजीवनभयैः न युक्ताः-न स्पृष्टाः । पुनः किम्भूताः ? न संक्लेशस्य-रौद्राध्यवसायस्य आवेशः-उत्कर्षो येषां ते न संक्लेशावेशाः । पुनर्न कद भिनिवेशाः, कत्-कुत्सितः अभिनिवेशः-कदाग्रहो येषां ते, तथा कपटप्रियाः-माया वल्लभा न पुनः किम्भूताः ? सूत्ररतयः सूत्रे रतिर्येषां ते सूत्ररतयः-सिद्धान्तरुचयः ॥१६॥

संविग्नाः सोपदेशाः श्रुतनिकषविदः क्षेत्रकालाद्यपेक्ष्या,-
ऽनुष्ठानाः शुद्धमार्गप्रकटनपटवः प्रास्तमिथ्याप्रवादाः ।
धन्याः सत्साधवोऽस्मिन्नियम-शम-दमौचित्य-गाम्भीर्य-धैर्य,-
स्थैर्यौदार्यार्यचर्याविनय-नय-दया-दाक्ष्य-दाक्षिण्यपुण्याः ॥ १७ ॥

व्याख्या-संविग्नाः० ॥ अस्मिन्-जिनशासने एवम्भूताः सत्साधवः-शोभन-साधवो धन्याः । किम्भूताः ? संविग्नाः-मोक्षाभिलाषुकाः । पुनः किम्भूताः ? सोपदेशाः, सह उपदेशेन-धर्मोपदेशेन वर्तन्ते ये ते सोपदेशाः । पुनः किम्भूताः ? श्रुतनिकषविदः-श्रुतमेव-शास्त्रमेव निकषः-कषपट्टस्तद्विदः-आगमरहस्यनिपुणाः । पुनः किम्भूताः ? क्षेत्रकालाद्यपेक्ष्यानुष्ठानाः,क्षेत्र-कालाद्यपेक्ष्य-क्षेत्रकालाद्यनुसारि, आदि शब्दाच्छरीरबलादिग्रहः, अनुष्ठानं-कर्तव्यता येषां ते द्रव्यक्षेत्रकालभावानपेक्ष्य क्रिया कर्त्तार इति । पुनः किम्भूताः ? शुद्धमार्गप्रकटनपटवः, शुद्धमार्गस्य प्रकटने पटवः-सावधानाः । पुनः किम्भूताः ? प्रास्तः-दूरीकृतः मिथ्याप्रवादो यैस्ते प्रास्तमिथ्या

प्रवादाः । पुनः किम्भूताः ? नियम, नियम–अभिग्रहः, शमः–उपशमः, दमः–इन्द्रियजयः, औचित्य–योग्यता, गाम्भीर्यम्–अलक्ष्यविकारत्व, धैर्य–धीरत्व, स्थैर्य–विमृश्यकारित्वम्, औदार्यम्–उदारत्वम् आर्यचर्या–सत्पुरुषप्रवृत्तिः, विनयः–अभ्युत्थानादिः, नयः–न्यायः, दया–कृपा, दक्ष्य–धर्मक्रियाऽनालस्य, दाक्षिण्यं–सरलता, एभिर्गुणैः पुण्याः–पवित्राः ॥ १७ ॥

स्वनामगर्भितकाव्यमाह—

जिष्णुजिष्णुमगर्वमस्मरममाशादं शुभोद्यद्वने,
सज्ज्ञानद्युमणिं जिनं वरवपुः–श्रीचन्द्रिकामेचरम् ।
वन्दे वर्ण्यमनेकधाऽसुरनरैः, शक्रेण चैनश्छिदं,
दम्भारिं विदुषां सदा सुवचसाऽनेकान्तरङ्गप्रदम् ॥ १८ ॥

व्याख्या–जिष्णु० ॥ जिन–तीर्थंकरं वन्दे । किम्भूत जिन ? जिष्णुजिष्णुम्–अतिशयैः शोभायमानम् । पुनः अगर्वम्–अहङ्काररहितम् । पुनः अस्मरं–कन्दर्परहितम् । पुनः किम्भूत ? शुभोद्यद्वने–सिद्धान्ताराधाऽतिक्रमे अनाशादम्, आशां–मनोरथ ददातीति आशादः, न आशादोऽनाशादस्तम् । पुनः किम्भूतं ? सज्ज्ञानद्युमणिं, सज्ज्ञानेन प्रधान केवलज्ञानेन द्युमणिं–सूर्यम् । पुनः किम्भूतं ? वरा–प्रधाना वपुःश्रीः–शरीरकान्तिः सैव चन्द्रिका–ज्योत्स्ना तया मेचरं–नक्षत्रनाथ चन्द्रम् । असुरनरैः–दानवमानवैः शक्रेण–इन्द्रेण अनेकधा–अनेकप्रकारेण वर्ण्य–वर्णनीयम् । पुनः एनश्छिदम्, एनः–पापं छिनत्तीति पापच्छेदकमित्यर्थः । पुनः दम्भारिं, दम्भस्य–कपटस्य अरिः–वैरी दम्भारिस्तम् । पुनः विदुषां–पण्डितानां सदा–निरन्तरं सुवचसा–सुवाक्येन अनेकान्तरङ्गप्रदम्, अनेकान्त –स्याद्वादस्तस्य रङ्गस्त प्रददातीति अनेकान्तरङ्गप्रदस्तम् । वचनेन भगवान् स्याद्वादस्वं प्ररूपयन्तीति । चक्रमापसर्ग, यथा माघकाव्ये चक्रबन्धतया वर्तते तथाऽत्र चक्रमापतुल्यं चक्रबन्धे 'जिनपद्मभेन गणिनेदं चक्रे' इति नाम वर्तते । चक्रस्थापना प्रसिद्धैव ॥ १८ ॥

जिनपतिमतधुर्ये कालतः साधुवेदे,–
विपथिभिरभिभूते भस्मकर्मोऽच्छलेभ्यैः ।
स्वपरसमयभानां शुद्धतेव स्वगच्छे,
स्थितिरियममुना तैरप्यमि स्वार्थमिद्धो ॥ १९ ॥

व्याख्या—जिनपति० ॥ तैः–चैत्यवासिभिः इव स्वमच्छकलिवतिः–स्वमच्छ मर्यादा अधुना–साम्प्रतम् अप्रथि–विस्तारिता । कस्यै ? स्वार्थसिद्ध्यै–स्वोदरभरणप्रयोजनाय । कथम्भूता ? स्वमत्सरवचनानां, स्वमताः–आत्मवशा ये जडाः–मूर्खाः जनाः–लोकास्तेषां मुद्रुला इव 'अस्मान् विमुच्य नान्यत्र गन्तव्यम्' एवं मुद्रका । क सति ? साधुवेषैः–साधुवेषमात्रधारकैस्तैरेव कालतः पञ्चमारकात् जिनपतिमतदुर्गैः अभिभूते–पराभूते, जिनपतेः–तीर्थंकरस्य मत–शासनं तदेव दुर्गः–कोट्टविशेषस्तस्मिन् । कथम्भूतैः ? विपर्ययिभिः–विपर्ययसेवकैः । पुनः किम्भूतैः ? भस्मकम्लेच्छसैन्यैः, भस्मकः–भस्मग्रह एव म्लेच्छः–तुरुष्काधिपतिस्तस्य सैन्याः सैन्यस्वरूपास्ते, यथा तुरुष्काधिपतेः सैन्यं भवति तथा भस्मकस्यैते सैन्या इति ॥ ३९ ॥

सम्प्रत्यप्रतिमे कुसङ्घवपुषि प्रोज्जृम्भिते भस्मक–
म्लेच्छातुच्छबले दुरन्तदशमाश्चर्ये च विस्फूर्जिते ।
प्रौढिं बिभ्रुषि मोहराजकटके लोकैस्तदाज्ञापरै–
रेकीभूय सदागमस्य कथयाऽपीर्ष्या कदर्थ्यामहे ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीसङ्घपट्टकसूत्रं सम्पूर्णम् ॥

व्याख्या—सम्प्र० ॥ लोकैर्वयम् इत्थम्–अमुना प्रकारेण कदर्थ्यामहे । कया ? सदागमस्य कथयाऽपि, सन्–प्रधानः आगमः–सिद्धान्तस्तस्य सदागमस्य कथयाऽपि–कथनेनापि । यदा शुद्धमार्गस्य कथाऽपि क्रियते तदा लोकाः कदर्थनां कुर्वन्तीति । क सति ? सम्प्रति–अधुना भस्मकम्लेच्छातुच्छबले प्रोज्जृम्भिते, भस्मकः–भस्मग्रहः, स एव म्लेच्छः–तुरुष्काधिपतिस्तस्य अतुच्छं–प्रचुरं बलं तस्मिन् प्रोज्जृम्भिते–प्रौढीभूते सति । कथम्भूते बले ? अप्रतिमे–महातेजस्विनि, पुनः कथम्भूते ? कुसङ्घ–वपुषि, कुसङ्घः–हीनाचारिसङ्घ एव वपुः–शरीरं यस्य स तस्मिन् प्रत्यक्षतो दृश्यमानकुसङ्घशरीरे च–पुनः दुरन्तदशमाश्चर्ये–दुष्टासंयतपूजालक्षणदशमाश्चर्ये विस्फूर्जिते–प्रकटीभूते सति । कथितवत्ता दशमाश्चर्यस्य पञ्चमारके प्रादुर्भावः । पुनः मोहराजकटके–मोहनीयकर्मरूपराजसैन्ये प्रौढिं–विस्तारत्व बिभ्रुषि–धारयति । भस्मकग्रहचैत्यवास्यादयः सर्वेऽपि मोहनीयसैन्यरूपा एव । किं कृत्वा कदर्थ्यामहे ? एकीभूय–एकपक्षतां कृत्वा । कथम्भूतैर्लोकैः ? तदाज्ञापरैः, तस्य–मोहराजस्य आज्ञा, तत्र पराः–सावधानास्तैः–मोहाज्ञा प्रवर्तिभिः । संसाररूपनगरे मोहराजो दुस्सङ्घस्तस्य सैन्य–भस्मग्रहो महासामन्तो दशमाश्चर्यं द्वितीयः सामन्त इति रहस्यमिति काव्यार्थः ॥ ४० ॥

ग्रन्थकारप्रशस्तिः

श्रीमत्खरतरगच्छे श्रीमज्जिनभद्रसूरिशाखायाम् ।
श्रीपद्ममेरुसुगुरु—र्व्यवहार्यस्मपुरं सूरि च ॥ १ ॥

तच्छिष्यो वाचकपतिरिह, श्रीमन्मतिवर्द्धनो गुरुर्जीयात् ।
श्रीमेरुतिलकनामा, तत्प्रायमकल्पिकः समभूत् ॥ २ ॥

तच्छिष्यौ प्रवरगुणौ, दयाकलशसद्गुणिप्रभाद्युमणिम् ।
अमरमाणिक्यसुगुरुः, समस्तसिद्धान्तवारीशः ॥ ३ ॥

तच्छिष्येण सुविहिता, सुगमेयं साधुकीर्तिगणिनाऽपि ।
एकोनविंशेसमधिक,—षोडशसंवत्सरे प्रवरे ॥ ४ ॥

माघमासे शुक्लपक्षे, पञ्चम्यां प्रवरयोगपूर्णायाम् ।
विबुधैः प्रपठ्यमाना, समस्तसुखदायिनी भवतु ॥ ५ ॥

॥ इति श्रीजिनवल्लभसूरिकृत—सङ्घपट्टकावचूरि सम्पूर्णा ॥



कविचक्रवर्त्ति श्रीजिनवल्लभसूरिभिर्विरचितः पण्डितलक्ष्मीसेनविहितया लघ्वर्था-
भिधया लघुवृत्त्यासमेतः ।

सङ्घपट्टकः

इन्दीवरप्रभमनिन्दितकान्तिशालि-
धामार्चितं सुरवरैः किल वासवाद्यैः ॥
श्रीमज्जिनेश्वरचरणं शरणाय सद्यः ।
सर्वोत्तमा नमत किं कुरुतान्य चिन्ताम् ॥ १ ॥

गम्भीरार्थेष्वेकैकसत्सद्ग्रन्थैः श्रीसंघपट्टमिव,–
ग्रन्थस्यास्य यथामति प्रकुरुते टीकां लघ्वर्थाभिधाम् ।
लक्ष्मीसेनसुधीः सुधीरनिवह प्रीत्यै जिनेशप्रभोः
पादाम्भो–जैनकल्प सन्मति रति श्रीमान् हमीरात्मजः ॥ २ ॥

तत्र तावदाद्यश्लोकार्थविवेचनमारभ्यते—

वह्निज्वालावलीढ कुपथमथनधीर्मातुरग्रेऽखिललोक ॥ १ ॥

व्याख्या—'वह्नि'रिति–तं देवं–पार्श्वनाथं वयं स्तुमः–प्रणमामः । तं कं ? यो देवः इति जगादेव–उक्तवानिव इति, किं ? प्राज्ञैः–पण्डितैः सद्यः–तत्क्षणादेव कुमार्ग-स्खलनं कार्यं–कर्तव्यं, सिद्धान्तविरुद्धमतनिराकरणं कर्तव्य–मित्यर्थः । किं कृत्वा ? स्वस्य आत्मनः विधुरमपि प्रपद्य । अपि सम्भावने कोऽर्थः ? कुमार्गस्खलनाद् यदि आत्मनो विधुरमपि किञ्चिद् भवति तथापि इति । किं कुर्वन् उक्तवान् ? कमठमुनितपः उच्चैः–अतिशयेन दुष्टं प्रकटयन्–प्रकटीं कुर्वन् । कोऽर्थः ? कमठनामतापसस्तावदेकः कश्चि तपस्वी पञ्चाग्नि नाम तपः कुर्वन् पार्श्वनाथेनावलोकित, तस्य तत् तपो भगवता दुष्टं कृत मित्यर्थः ॥ किं कृत्वा ? अखिललोकस्याग्रे ज्वलत्काष्ठमध्यात्सर्पं सन्दर्श्य, न केवलं अखिल लोकस्याग्रे मातुर्वामदेव्याश्चाग्रे वामादेवी भगवन्माता, तस्या अपि पुरतः इत्यर्थः किं विशिष्टं नागं ? " अग्निज्वालावलीढ " अग्निशिखाकवलित–अर्द्धदग्ध मित्यर्थः कथम्भूतो यः परमेश्वरः ? कुमार्गछेदनबुद्धियुक्तः । पुनः कथम्भूतः ? कारुण्याम्बुवाम्भिः–कृपा पीयूषसागरः ॥ १ ॥

श्रीउपदेशश्रवणयोग्य श्रोतारं निरूपितुमाह—

कल्याणाभिनिवेशवानिति गुणग्राहीति मिथ्यापथः.. ॥ २ ॥

व्याख्या—कल्याणाभि०—श्रोतुर्णां चतुर्दशगुणाः, श्रोतृशब्दाः सर्वेऽप्यत्र हेत्वर्थाः। अथ श्लोकान्वय —भो श्रोतः! मया ग्रन्थकर्त्रा त्वमुच्यसे—कथ्यसे कथमिति? कल्याणाभिनिवेशवानिति, कोऽर्थः शुभरूपाग्रहवान् शोभनस्य रूपस्य आग्रहो विद्यते अस्येति स तथा। पुनः कथमिति? गुणग्राहीति गुणग्रहीतु शीलमस्येति गुणग्राही। पुनः कथमिति? मिथ्यापथप्रत्यर्थीति यथा—छन्दः प्ररूपितोत्सूत्रमार्गस्तस्य विरोधी, पुनः कथमिति? विनीत इति प्रशुस्वभाव इति, अर्थात् गुर्वादिषु। पुनः कथमिति अशठ इति अधूर्त इति। पुनः कथमिति? औचित्यकारीति—उचितस्य भाव औचित्य, तत् कर्तुं शीलमस्येति। पुनः कथमिति? दाक्षिण्यीति दाक्षि–ण्ययुक्तः। पुन, कथमिति? दमीति—जितेन्द्रियः, पुनः कथमिति? नीतिमुदिति—नीतिं बिभर्तीति नीतिभृत्–सदाचारपरायण इत्यर्थः पुनः कथमिति? स्थैर्यीति—स्थैर्यगुणयुक्तः स्थिर इत्यर्थः। पुनः कथमिति? धैर्यीति—धीर इत्यर्थः। पुनः कथमिति? सद्धर्मार्थीति—सतां धर्मः सद्धर्म तस्यार्थः, सोऽस्यास्तीति शोभनधर्मगवेषकः। पुनः कथमिति? विवेकवानिति—युक्तायुक्तविचारचतुरः इत्यर्थः। पुनः कथमिति? सुधीरिति प्राज्ञ इत्यर्थः ॥ २ ॥

इदानीं युग्मश्लोकयो–र्व्याख्यानमारभ्यते—

इह किल कलिकालव्यालवक्त्रान्तराल.. ॥ ३ ॥
मोऽस्तर्ध्वंद् भवभरासिमहसजसमाश्रयमाप्राप्यपुण्य.. ॥ ४ ॥

व्याख्या—इह० ॥ भो० ॥ " किलेति " प्रसिद्धिः इह जगति विपथिभिः सकृपचन्दनवनिताविदिसेविभिः अभितः—समन्तात्। सोय यथा अभ्यर्थि—प्रार्थितः—कथा पितः। कथम्भूतः यथा? जिनोक्तिप्रत्यर्थी—जैनशास्त्रविरोधी, कस्मिन् सति? प्राणिवर्गे जीवसमूहे जैनन्द्रमार्गे—जिनशासने विरलतां—तुच्छतां याति सति, कथम्भूते प्राणिवर्गे? कलिकालव्यालवक्त्रान्तरालस्थितिजुषि। कलिकाल एव व्यालः—सर्पस्तस्य वक्त्र तस्यान्तराल—मध्य तत्र स्थितिः—स्थान, तत् जुषत सेवते यः तस्मिन्। पुनः कथम्भूते प्राणिवर्गे? गततत्त्वप्रीतिनीतिप्रचारे। गतौ—नष्टौ तत्त्वप्रीतिर्नीतिप्रचारौ यस्य तस्मिन्, इदानीं प्राणिवर्गे तत्त्वप्रीतिर्नास्ति। नीते प्रचारो व्यवहारश्च नास्तीत्यर्थः।

पुनः कथम्भूते ? प्रसरदनवबोधे–प्रादुर्भवत् सम्यक्सिद्धान्तापरिज्ञान, कोऽर्थः ? सिद्धांतार्थसम्यग्ज्ञानरहिते । पुनः कथम्भूते ? प्रस्फुरत् कापथोधरथमितसुमति-सर्गे उन्मीलन्त्वः–प्रकटी भवतः ये कुमार्गाः–कुत्सितमार्गाः ते स्थगितः–तिरस्कृतो रुद्धः–अपवर्गलक्षणायाः सुगतेः सर्गो–निष्पत्तिर्यस्य तस्मिन् । कथम्भूतैः साधुवेषैः विषयिभिः ? संक्लिष्टविष्टसमसलजनजनाम्नायरक्तैः । कोऽर्थः ? समानधर्मजनो पलापकारि–मत्सरि–हेयोपादेयविमर्शशून्यप्रकर्षपिशुनः दुर्बुद्धिचतुर्विध संघः, तस्या म्नायः–शिष्यप्रशिष्यादिसंतानः, तत्र रक्तः–प्रीतिमतः, तैः । पुनः कथम्भूतैः ? साधुवेषैः–सन्मुनिचिह्नधारिभिः कथम्भूते जैनेन्द्रमार्गे ? 'प्रोत्सर्प' इत्यादि प्रोज्जृम्भ माणो यो भस्मराशिनामा क्रूरग्रहः, तस्य सखा–मित्रम्, असयतपूजाख्यं रिपुविजय पुरःसरं आश्चर्यं वर्द्धमान अतस्मे तत्त्वप्रतिपद्यमानरूप यद् दशमाश्चर्यं तस्य साम्रा ज्येन–प्राचुर्येण पुष्यन्–प्रादुर्भवन् मिथ्यात्व, तदेव ध्वांत–तमिस्र तेन व्याप्ते । अन्योऽपि मार्गो यथान्धकारावृतो भवति तदोच्छन्नतां यात्येव ॥ १–४ ॥

इदानीं योग्यस्य श्रोतुः पुरतो दुर्जनकल्पिते पथि दशभिर्द्वारैस्तत्र निरूपितं धर्मं प्रतिपादयन् तस्य धर्मस्य कर्मनिर्मूलन सामर्थ्यमसंभावयन्नाह—

यत्रौद्देशिकभोजनं जिनगृहे वासो वसत्यक्षमा... ॥ ५ ॥

व्याख्या—" यत्रौ० " यस्मिन् मार्गे औद्देशिकभोजनं, कोऽर्थः ? यतीन् मनसि कृत्वा निष्पादितं, जिनगृहे वासः–अर्हद्भवने सर्वदा निवासः, वसत्यक्षमा–गृहस्थ गृहे वासं प्रति मात्सर्यम्, अर्थं गृहस्थचैत्यसदनेषु स्वीकारः–द्रव्यश्रावकजिनगृहेषु अङ्गीकारः, अप्रेक्षितासनं–स्वचक्षुषा अदृष्ट–आसनम्, सावद्याचरितादरः–सपापे यदाचरितं, तस्यादरः, श्रुतपथावज्ञा–सिद्धान्तमार्गस्यानादरः, गुणिद्वेषधीः–यतिषु द्वेषबुद्धिः, इति दशद्वाराणि । एतैर्दशद्वारैः प्ररूपितो धर्मः । अत्र–असाधुकल्पिते पथि कर्म्महरोभवेद् भवेत्–कर्मक्षयकारी भवेत् तदा अब्धौ–समुद्रे मेरुस्तरेत् । यदा मेरुः समुद्रे तरति तदा एतस्माद् धर्म्मात् मोक्षो भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

साम्प्रतमेतेषामेव दशद्वाराणां यथाक्रमं प्रत्याख्याने चिकीर्षुः प्रथम सामग्रीमोप मर्ददोषदृष्टया औद्देशिकभोजनद्वारं निषेद्धुमाह—

षट्कायान् उपमर्द्य निर्दयमृषीनाधाय यत् साधितं...॥ ६ ॥

व्याख्या—षट्कायामुपम० । नामेति संभावनायाम्, इह–प्रवचने सघृणो–दयालुः कः तद् भोजन भोक्तुमिच्छति ? अपितु न कोऽपि–इत्यर्थः । किं कुर्वन् ? सद्भादिनिमित्तमेतन्निष्पन्नमिति जानन् । किं तद्भोजनं यत् षट्कायान्–षड्विधजीवनिकायान् उपमर्द्य–हत्वा निर्दयं यथा स्यात्, एवम् ऋषीन्–यतीन् आदाय–मनसि कृत्वा पत् साधित निष्पादित यद् भोजनम् असकृत्–वारं वारं शास्त्रेषु प्रतिषिध्यते–निवार्यते निशीथादिग्रन्थेषु यस्य निषेधो वर्तते, तद् भोजनं निस्त्रिंशताधायि निष्करुणताकारकम् । पुनः यद् भोजन पण्डिताः गोमांसाद्युपमम् आहुः–गोमांसादिसदृशं कथयंति मूलादि । यद् भोजन भुक्त्वा यतिरधोयाति–नरकं गच्छति तद् भोजनं प्राज्ञः कोऽपि न भोक्तुमिच्छति–इत्यर्थः ॥ ६ ॥

प्रथमं तावत् भोजनद्वारं निषेध्य जिनगृहनिवासं निषेधयितुमाह—

गायद् गन्धर्वेत्यादि पणरमणिरणद् वेणुगुञ्जन्मृदङ्ग ॥ ७ ॥

व्याख्या—" गायद् गन्धर्व०" खलु इति निश्चये अर्हन्तमतज्ञाः–जिनशास्त्रनिपुणाः सन्तः जिनगृहे न वसन्ति–न सततमवतिष्ठन्ते । कुतः ? विकारहेतुत्वात् । किं विशिष्टाः सन्तः ? त्रसन्तः, कस्याः ? देवद्रव्योपभोगध्रुवमठपतिताऽऽशातनाभ्यः । देवद्रव्यस्य जिननैवेद्यादेः उपभोगः, सतत शयनं, भोजनादिकरणे उपभोगः, ध्रुव–निश्चय मठपतिता–मठाधिपत्य, तथा भगवदाशातनाः–जिनानां चतुरशीतिराशातनाः, एतेभ्यः बिभ्यन्तः । कथम्भूते जिनगृहे ? ' गायद् गन्धर्वे 'त्यादि, गायन्तः गन्धर्वाः प्रधानगायनाः यत्र नृत्यन्त्यः पणरमण्यो–वेश्या यत्र, रणन्तो–मधुरं ध्वनन्तो वेणवो–वंशाः यत्र, गुञ्जन्तो गम्भीरं स्वनन्तो मृदङ्गा प्रेङ्खन्त्योलम्बमानाः पुष्पस्रजः–पुष्पमाला यत्र, उद्यत्–सर्वतः प्रसरत् आमोदद्वारेण मृगमदः–कस्तूरिका यत्र, लसन्त्यः–पट्टांशुकमयवस्त्रादीप्यमाना उल्लोचानि–वितानानि यत्र, महाघनवसनभूषणाङ्गरागादि भूषितशरीरत्वात् शोभमाना मनीषाः–श्रावकसमूहा यत्र, तस्मिन् ॥ ७ ॥

वसत्यधमाद्वारं निरसितुं श्लोकद्वयेनाह—

साक्षाज्जिनैर्गणधरैश्च निषेधितोच्चं ॥ ८ ॥

चित्रोत्सर्गापवादे भवित सिवपुरीदूतभूते निशीथे ॥ ९ ॥

व्याख्या—साक्षा० सकर्ण –सश्रवणः कः पुमान् परगृहे–गृहस्थगृहे वसति–

निवासं विद्वेष्टि । अकर्णः पुमान् कर्णौ विना सिद्धान्तोक्तामपि परगृहवसतिम्–अनात्मवेद्य निषेधेदपि । यः पुनः सकर्णः–भवभः स परगृहवसतिं यतीनामनुमोदयत्येव, न तु द्वेष्टि । किं कुर्वन् ? मुनिपुङ्गवानां–यतिश्रेष्ठानां अनगारपदं जानन्–न विद्यते अगारो यस्येति जानन् । अथवा किं विशिष्टां वसतिं ? 'शय्यातरोक्ति'मिति, शय्या वसतिरा स्पाता यतिभ्यो दानतया, तरति भवाम्भोधिं यया अनगारपदं शास्त्रे हि यतिवाच कत्वेन प्रतिपद श्रूयते । ननु स्वगृह एव किमिति यतयो न वसति ? तत्राह–मुनिपुङ्गवानां निःसंगता–स्वजनादि रहितस्य अभिमपदं–मुख्यस्थानम् । किंविशिष्टा निःसंगता ? साक्षात्–प्रत्यक्ष जिनैः–तीर्थंकरैः निषेविता–उपभुक्ता, स्वमुखेन उक्ता च कथिता, न केवल जिनैर्गणधरैश्च–गौतमप्रभृतिभिः । यतीनां स्वगृहं नास्त्येव, अतः परगृहवसतिरेव श्रेयसीत्यर्थः ॥ ८ ॥

व्याख्या—'चित्रोत्सर्गो॰' सर्वत्र–सर्वस्मिन् वसति अधिकारे आगारधाम्नि–गृहस्य गृह एव यतीनां निवासो न्ययामि, कोऽर्थः ? व्यवस्थापितः, न तु क्वापि–कस्मि न्नपि ग्रन्थे, चैत्ये–जिनगृहे निवासो निरूपितः । किं कृत्वा ? प्रागुक्त्वा–प्रथमं निशीथे सूरिभेदाः–बहुभेदाः वसतीः उक्त्वा । किं विशिष्टे निशीथे ? चित्रोत्सर्गापवादे । चित्रौ–नानाविधौ बहुप्रकारौ उत्सर्गापवादौ–सामान्यविधि–विशेषविधी यस्मिन् । पुनः कथम्भूते निशीथे ? चित्रपुरीषमूत्रे–मुक्तपुरीसन्देशहरसरक्षे । पुनः किं कृत्वा ? पश्चात्–तदनन्तरं कारणेऽपोद्य–अपवादविषयीकृत्य । किं विशिष्टे अगारधाम्नि ? स्त्रीसंसक्त्यादि युक्तेऽपि–स्त्रीपण्डकादिसहितेऽपि । ननु विकारसामग्रीसहिते गृहस्थ–गृहे कथं यतीनां निवासः ? इत्याह—अभिहितयतनाकारिणामिति–निशीथोक्तयतना सावधानानां संयतानां किं विकारहेतुभिरित्यर्थः ॥ ९ ॥

ननु एव यतना सावधानानां चैत्यवासेऽपि को दोषः ? इत्यतः आह—

प्रव्रज्यापरिपंथिनं ननु धनस्वीकारमाहुर्जिनाः ॥ १० ॥

व्याख्या—"प्रव्रज्या॰" ननु निश्चितं तीर्थंकराः धनस्वीकारं–द्रव्यस्याङ्गीकारं प्रव्रज्यापरिपंथिनमाहुः ॥ कोऽर्थः ? दीक्षायाशत्रुभूत कथयन्ति स्म । क धनसंग्रहः ? क दीक्षेतिद्वारम् । तु पुनः सर्वारंभ–परिग्रह–सकलपापसहितानां गृहिष । परिग्रहं अति महासावद्य अतिशयमहासपापं आपद्यते–कदर्थयति । तेन गृहस्थपरिग्रह, सर्वथा यतीनां नोचित इति द्वारम् । चैत्यस्वीकरणे तु माठपत्यमेव स्यात् । यदा यतीनां जिनगृहस्य

स्वीकारास्तदा मठाधिपस्यमेव भवेत् । कथम्भूत माठपत्यम् गर्हिततम-प्रकर्षेण निन्दित । यद्वा इति हेतोर्ऐक्यर्थिनां पुंसाम् इति ममता युक्ता न-द्रव्यादिषु ममत्वं युक्तं नेत्यर्थः । कथम्भूता ममता ? व्रतवैरिणी चारित्रशत्रुभूता ॥ १० ॥

तत्र दशद्वाराणां मध्ये षड् द्वारा निषेध्य अवशिष्टद्वारचतुष्टय निषेधयितुमाह श्लोक चतुष्टयेन—

भवति नियतमत्रासंयमः स्याद् विभूषा ॥ ११ ॥

गृही नियतगच्छभाग् जिनगृहेऽधिकारो यतेः ॥ १२ ॥

निर्वाहार्थिनमुज्झित गुणकवैरजालशीलाम्बयं ॥ १३ ॥

दुष्यापा गुरुकर्मसंचयवतां सद्धर्मबुद्धिर्गुणा ॥ १४ ॥

व्याख्या—अत्र श्लोके सप्तम द्वारं गन्दिकायासने निषिध्यते । अत्र गन्दिका यासने विभूषा स्यात्-शोभा भवेत् । न केवलं शोभा, असंयमश्च भवति । कोऽर्थः ? जीवरक्षाऽभावश्च भवति नियत-सर्वदा गन्दिकायासने कथ शोभा भवेत् ? तत्राह-"नृपतिककुद" एतदिति, यतः एतदासन नृपतिककुद-राज्यचिह्नमिति । तर्हि शोभाऽप्य भीष्टैवेत्याह-लोकहासमेति गन्दिकायासने भिक्षोः केवलं शोभैव न भवति किन्तु लोके यहासश्च भवति-' अहो ! भिक्षोपजीविनो मुण्डिता अपि एवंविधेष्वासनेषूपविशन्ति ' । इह संगः लोकविदितः गन्दिकासौ परिग्रहः, उच्चैः-अतिशयेन सातशीलत्वं-सुख लोलुपता, इति हेतो मुमुक्षोः मोक्षाभिलाषिणः पुरुषस्य गन्दिकायासनं संगत न-युक्त नेत्यर्थः । इति सप्तम द्वारम् ॥ ११ ॥

सावद्याचरितावराकमष्टम द्वारं निरूपयन्नाह—

व्याख्या—' गृही नियतगच्छ० ' गतानुगतिकैः-गड्डरिकाप्रवाहरूपैः अन गारिणां-यतीनाम् असंस्तुतम्-अनुचितम्, अतः-एतत् कथ प्रस्तुतं-प्रारब्धम् । एतत् किं ? गृही-श्रावको नियतगच्छभाग् भवति, कोऽर्थः ? आत्मसत्कोऽस्ति गच्छो येषाम् तेषा मेव समुदाय भजनेन गुणदोषादिक विचारयति अन्य यतेः मुनेः जिनगृहे अधिकारः एतदपि विरुद्ध-मेव, अपरं च आरंभिभिः-गृहिभिः साधुषु-यतिषु यथा तथा, कोऽर्थः ? येनैव प्रकारेण तेनैव अशुद्धमपि अशनादि-भक्तपानादिप्रदेय-वितरणीयम् । एतदपि विरुद्धमेव । अपरं च व्रतादिविधिचारणं-मर्मविरत्यादिविधेर्धारण-निषेधः । एतदपि विरुद्धम् । सुविहितान्तिके-सन्तिके-स मुनिसमीपे कथ प्रारब्धमित्यर्थः ॥ अष्टम द्वारम् ॥ १२ ॥

नवम द्वारं निक्षेपयितुमाह—

व्याख्या—मिथ्या० जनाः-लोकाः यत् ईदृशं यतिं देवेभ्योऽपि-जिनेभ्योऽपि अधिकं यथा स्यात् तथा अर्चयन्ति-पूजयन्ति तत् महतः-प्रबलस्य मोहस्य-अज्ञानस्य जृम्भित-लीलायित। कीदृशं यतिं ? निर्वाहार्थिनं, कथं ? निर्वाहो-जीविका भक्तादिस्तम् एवार्थः प्रयोजनं यस्य तम्। पुनः कीदृशं ? गुणलवैः-गुणलेशैरपि उज्झित-त्यक्तम्। पुनः कथम्भूतं ? अज्ञातशीलान्वयं अविदिताचारकुलं पुनः कथम्भूतं गुरुणा-आचार्येण स्वार्थाय-प्रयोजनाय मुण्डीकृत-दीक्षां नीतम्। कथम्भूतेन गुरुणा ? तादृग्गुणयुक्त गुणेन-तादृग्शिष्यवञ्चनजातेन तद्गुणेन-शिष्यसङ्ग्रहगुणेन। किंविशिष्टा जनाः ? विज्ञात गुणान्वया अपि-प्रसिद्धगुणवंशजाता अपि। अकुलीनाः-कुलीनं पूजयति तदा पूजयन्तु, (किन्तु) कुलीना अपि अकुलीनं पूजयन्ति, इतिमोह प्राबल्यम्। पुनः किंविशिष्टाः ? लग्नो प्रगच्छग्रहाः-चेतसि निविष्टो यः स्वगच्छप्रतिबन्धः तद् युक्ता इत्यर्थः। द्वारम् ॥९-१३॥

'गुणद्वेषी' इतिद्वारं निषेधयितुमाह—

व्याख्या—दुष्प्राप्या० ॥ गुरुकर्मसञ्चयवतां-गरिष्ठसंसारबन्धहेतुकर्मयुक्तानां प्राणिनां सद्धर्मबुद्धिर्दुष्प्राप्या, कोऽर्थः ? दुःखेन प्राप्यते तस्यां सद्धर्मबुद्धौ जातायामपि उत्पन्नायामपि शुभगुरुर्दुर्लभ यो गुरुरिष्टतरं किञ्चिदुपदिशति। सोऽपि शुभगुरुः पुण्येन यदि प्राप्यते तथापि अमी जनाः स्वहितं कर्तुं नालं-आत्मनो हितं कर्तुं न समर्थाः। किं विशिष्टा जनाः ? गच्छस्थितिव्याहताः-'युष्मत्कुलागतोऽयं गच्छस्तत एनं गच्छं त्यक्त्वा भवद्भिर्नान्यपार्श्वे भवन-सम्यक्त्वव्रतप्रतिपत्त्यादिकं विधेयम्' इति गुरुस्तस्य यतिविहिता व्यवस्था, तया गच्छस्थित्या व्याहताः-वशीकृता इत्यर्थः, अतो हेतोः किं ब्रूमः-किं भणामः ? इह-संसारे, किम् आश्रयेमहि-निषेधेमहि ? किम् माराध्येमहि-कस्याराधनां कुर्मः ? किं वा कुर्महे-विदध्मः, इति दशम द्वारम् ॥ १४ ॥

एतेन प्रव्रज्याऽपि कुलीनस्यैव योग्येति प्रतिपादयन्नाह—

क्षुत्क्षामः किल कोऽपि रङ्कशिशुकः प्रव्रज्य चैत्ये क्वचित् ॥ १५ ॥

व्याख्या—'क्षुत्क्षामः' किलेति संभावने कोऽपि रङ्कशिशुकः-अज्ञातनामा क्षुत्क्षाममन्-बुभुक्षादुर्बलः सन् क्वचिदनिर्दिष्टनाम्नि चैत्ये-जिनगृहे प्रव्रज्य-दीक्षां गृहीत्वा कञ्चन श्रावकं पक्षं कृत्वा तदाचार्यकं प्राप्तः-सूरिपदं गतः सन्, कथम्भूतः ?

मधुरकलिः अभ्यधिकतरकलहः चित्रम्—आश्चर्यं—चैत्यगृहे गृहीयति गृह इव आचरति। निजे गृहे कुटुम्बीयति—कुटुम्ब इवाचरति। स्व—आत्मानं शक्रीयति—शक्रमिवाचरति बुधान्—पण्डितान् बालिशीयति—मूर्खानिवाचरति। विश्वं—जगत् वराकीयति—रङ्कमिवाचरति, अतो मूर्खबहुलं जगत्, यतेः कुलशीलादिकं न विचारयति किञ्चित् मोहनोद्भटनाद्भुतमवलोक्य दुष्टमपि यतिं देववत् पूजयन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

अस्मिन्नेवार्थे—अपरमपि वृत्तमाह—

यैर्जातो न च वर्धितो न च न च क्रीतोऽधमर्णो न च ॥ १६ ॥

व्याख्या—'यैर्जातो०' ॥ तैरेव अधमाधमैः—अत्यधमैः यतिभिः अयं जनो—लोकः बलात् हठात् वाह्यते—यत्र तत्र नीयते अतः हा! इति कष्टे इदं जगत् नीराजकं—राजशून्यं, राजा चेद् भवति तदा एतदनुचितं न भवति—इत्यर्थः। तैः कैः? यैः यतिभिरयं लोको न जातः—नोत्पादितः योगक्षेमादिसंपादनेन, यैर्न च वर्धितः—शरीरपोषणं न प्रापितः, यैर्न च क्रीतः—अन्यस्मान्मूल्यदानेन न गृहीतः, न च अधमर्णेन—उद्धारादिप्रयोगेण गृहीतः, न च प्राक्—पूर्वं दृष्टः—अवलोकितः, न च बान्धवः पितृव्यभ्रातृसम्बन्धवान्, न च प्रेयान् वल्लभतरः, न च प्रीणितः—तोषितः। एतावता ये यतयः न दृष्टा, न श्रुताः, न च सम्भाषिताः, तैर्दुष्टैर्यतिभिः अयं जनो लोकः बलात् वाह्यते। किंवत्? नस्योत पशुवत् यथा नस्तितः पशुर्यत्र तत्र नीयते इत्यर्थः। चकारः सर्वत्र समुच्चयार्थः ॥ १६ ॥

कुपथावस्थितजडजनानवलोक्य प्रकरणकारः प्राह—

किं दिग्मोहमिताः किमन्धबधिराः किं योगचूर्णीकृताः ॥ १७ ॥

व्याख्या—'किं दिग्मोह०' यद् यस्माद्धेतोः अमी जडाः—मूर्खाः जनाः कुपथात्—कुमार्गात् व्यावृत्तिम्—अपसरणं न दधते—न कुर्वते तस्माद्धेतोः एते जनाः—लोकाः किं दिग्मोहम् इताः पूर्वादिदिक्षु पश्चिमादिविभ्रमः दिग्मोहः तं प्राप्ताः?। किं अन्धबधिराः जाताः? अन्धाः—नेत्रहीनाः। बधिराः—कर्णहीनाः। किं वा योगचूर्णीकृताः?—मस्तकादिषु चूर्णक्षेपेण वशीकृताः। किं वा दैवोपहताः? दैवेन—विधिना उपहताः—विभ्रंशं प्रापिताः। 'अंग'ति संबोधने। किं वा ठगिताः?—स्वायत्तीकृताः। किं वा ग्रहावेशिता?—भूतादिशरीराधिष्ठानाः। न केवलं कुपथप्रवृत्ताः एव सन्ति किन्तु एतद् कुर्वते, कोऽर्थः? जिनमार्गकृते जिनमार्गनिमित्तं मत्सरयन्ति च—ईर्ष्यां कुर्वन्ति च।

किं कृत्वा? सुगुरुः मूर्ध्नि–शालमस्तके पदं–चरणं कृत्वा–विधायेत्यर्थः किंविशिष्टा अमी? स्पष्टोक्तदोषा अपि–साक्षादुत्सूत्रोक्तिरूपपददोषा अपि अलब्धदोषा हि विवेकिनोऽपि कुपथात् निवर्तितुं समीहन्ते किं पुनः अन्येऽपि लब्धदोषाः ते मूर्खा अपि कुपथान्निवर्तन्त एवेति श्लोकार्थः ॥ १७ ॥

सिद्धांते हि रजन्यां जिनस्नात्रं पापपंके निमज्जनाय प्रवर्तति इत्यत आह—

इष्टावाप्ति–तुष्ट–विटभटमतचेटकपेटकाकुलं ॥ १८ ॥

व्याख्या—'इष्टावाप्ति०' जिन मज्जनं–जिनस्नानं अविधिना–सिद्धान्तोक्तविधि वैपरीत्येन मूढजनेन विहितः सन् अघपङ्के–पापकर्दमे निमज्जनमेव जनयति, कोऽर्थः? सिद्धान्तोक्तप्रकारेण यदि देवस्नात्रं न विधीयते तदा स्नात्रादपि नरकपतनमेव भवती त्यर्थः। कथम्भूतं स्नानम्? इष्टा वाप्ति तुष्टविटनट–भटचेटक–पेटकाकुलम्, इष्टायाः–प्रियायाः स्नात्रदर्शन व्याजेनागताया अवाप्तिः–मिलनं, तया तुष्टाः विटाः 'निःशङ्क मत्रापि नः सुरतलीलाप्रवर्तिष्यते' इति धिया मुदिता विटाः–वेश्यापतयः, नटाः–नर्तकाः, भटाः–खड्गादिकलाजीविनः, चेटकाः–मासादि नियमित[वृत्ति]ग्राहिणः, एतेषां पेटक–समूहः, तेन आकुलं–भृशितम्, पुनः कथम्भूतं स्नात्रं? त्रिभुवनविदि जिनत् दोहद नरनारी निकरसंकुलं–त्रिभुवनं–सुरतं तदर्थे निबद्धो दोहदः–अभिलाषो यैस्तैर्नरनारीनिकरैः–समूहैः संकुलं–व्याप्तं। कथम्भूतं स्नानं? रागद्वेषमत्सरेर्ष्यापनं–कस्यचित् परकामिनीं प्रति रागः–स्नेहः, स्वप्रेयसीं अन्येन सह संगच्छमानां पश्यतस्तद्विषयोऽपरो द्वेषः, मत्सरश्च–स्वचक्रामामन्येन सह रूपस्त्रीमवलोकयतः पुरुषस्य, असहिष्णुता–ईर्ष्या, तानिर्ष्यनं–सान्द्रम्, एतावता सकलविकारसामग्री परिपूरितमूर्खजनविहित–स्नानादपि नरके पतनमेव भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

न केवलं स्नात्रमेव नरकजनकं किंतु अविधि कृतं व्रताद्यपीत्याह—

जिनमतविमुख–विहित–महिताय न मज्जनमेव केवलं ॥ १९ ॥

व्याख्या—'जिनमत०' केवलं जिनमत–विमुखविहितं–जिनशासनविपरीत कृतं मज्जनमेव 'अहिताय' संसाराय न भवति किं तर्हि? (किंतु) तपश्चरित्रदानाद्यपि अनशनादि सर्वविरति अपि शिवफलं–मुक्तिरूपफलं न जनयति। एतावता जिनशास्त्र विपरीत कृतं सर्वमेव निष्फलमेवेति श्लोकार्थः। हि–यतः कारणात् अविधिविधि क्रमात् सिद्धान्तानुक्तोक्तप्रकारेण, सिद्धान्ते यथोक्त येन प्रकारेण जिनाज्ञाऽपि–अर्हदागमोक्ता

मुष्ठानमपि अशुभमशुभाय-अकल्याणासंपत्तये जायते। 'किं'मित्याक्षेपे वाक्यभेदे वा, 'पुन'रिति इदुप्रकारेण भवितहेतु -संसारप्रभवहेतुः विडम्बनेप-लोकोपहासास्पदमत्र न प्रसार्यते न विस्तार्यत ? अपि तु विस्तार्यत एवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

अन्यदप्याह—

जिन-गृह-जैनबिम्ब-जिनपूजन जिनयात्रादि विधिकृत ॥ २० ॥

व्याख्या—'जिनगृह'० इह-प्रवचने एतदपि सर्वं स्फुट-प्रगट व्यक्तमेव अनभिमतकारि भवति-अनिष्टविधायि भवेत् ॥ कस्मादित्याह—कुमत-कुगुरु-कुग्राह कुबोध-कुदेशनांशतः, अस्यार्थः-कुत्सित मतं कुमत, कुत्सितो गुरुः कुगुरुः, कुग्राहः-सिद्धान्तप्रायस्वमतिकल्पितासम्पदार्थसमर्थनानुग्रहणविषयो मानसोऽभिनिवेशः, जिन शासनस्याज्ञानादन्यथा परिच्छेदः कुबोधः, सिद्धान्ताभिहितार्थानां वि पासेन प्ररूपणा भणिता कुदेशना, तासाम् अंशतः-लेशतः। एतत् किं ? जिनगृहं-अर्हद्भवन, जैनबिंब-भागवती प्रतिमा, जिनपूजन-भगवत्पूजा, जिनयात्रादि-भगवत्कल्याणकाष्टाहिकादि, एतत् सर्वं विधिकृतमपि-जिनोक्तप्रकारेण निष्पादितमपि दानतपोव्रतादि-दान तपसी पूर्वे व्याख्याताम्, व्रतादि-स्थूलप्राणातिपातविरमणादि, गुरुभक्तिः-आचार्य शुश्रूषा, श्रुतपठनादि-सिद्धान्ताध्ययनं। एतत् सर्वमपि उक्तहेतोः अनिष्ट विधायि भवेत् आदृतमपि-सबहुमानमपि। किमिव ? वरभोजनमिव यथावसरं इदं भोजन विषलवनिक्षेपतः-गरलकणनिक्षेपात् अनभिमतकारि भवति-अनिष्टविधायि भवति, एतावता कुमतादि संसर्गाज्जिनपूजनादिकमपि शुभदायि न भवतीत्यर्थः ॥ २० ॥

सकपटपर्वि वर्णयन्नाह—

आकर्ण्ड मुग्ध-श्रीमान् वञ्चितपिशितवद् बिम्बमात्रस्य जैने ॥ २१ ॥

व्याख्या—'हा' इति कष्टे, अय जनो-लोकः शठैः-धूर्तयतिभिः वञ्च्यते-विप्रलभ्यत। किं विशिष्टः ? अशालुः-विवेकविकलः धर्मेच्छावान्, क इव ? शाकिन्यादिवशीकृत इव यथा शाकिन्यादिवशीकृतः कश्चित् वञ्च्यत ॥ कैः ? यात्रास्नात्रा द्युपायैः, यात्रा-जिनयात्रा, स्नात्र-जिनस्नानम्, इत्यादयः उपायाः-प्रकारास्तैः, न केवल यात्राद्युपायैः, नमस्यितक-निशाजागरादिच्छलैश्च, नमस्यितकं-उपयाचितकं "भवता मिदानीमीदृश उपद्रवः समुपस्थितस्तस्मात् भवद्भिस्तन्निवृत्तये जिनगोत्रशासनसुराणां

इयद् द्रव्यमेवपणीय "मिति । निशाजागरादिच्छलैः–रात्रिजागरणादिव्याजैः किं कृत्वा वञ्चयते ? जैनबिम्ब आदर्श्य दर्शयित्वा, कोऽर्थः ? जिनप्रतिमां दर्शयित्वा । न केवल जिनप्रतिमां दर्शयित्वा तथाक्षा–जिननामधेयेन स्वेष्टसिद्ध्यै–आत्माभिमतनिष्पत्त्यै गृहान् कारयित्वा, कथम्भूतान् गृहान् ? रम्यरूपान्–मनोहरान् किंवत् दर्शयित्वा ? मुग्धमीनान् आकृष्टुं बडिशपिशितवत्, यथा व्याधो बडिशे–मत्स्यवेधने पिशित–मांसं विधाय मुग्धमीनान्–मुग्धान् मत्स्यान् आकर्षयति ? हेयोपायोदेयविचारशून्यतया धर्म्मे भद्रालवस्तएव मत्स्यास्तान् ॥ २१ ॥

सर्वत्रात्यगिताभवाः स्वविषयव्यासक्तसर्वेन्द्रियाः ॥ २२ ॥

व्याख्या—कष्टमिति खेदेन उद्धतधियः–'नास्त्यस्मत् समो जगति संप्रति कश्चन 'ति दर्पाध्मातपुरुषः तुष्यन्ति–मोदन्ते, पुष्यन्ति–वर्द्धन्ते च, किं कृत्वा ? स मुनि मूर्द्धसु स्थित्वा–मुनिमस्तकेषु स्थितिं विधाय, किं विशिष्टाः ? अन्त्याश्चर्यराजाश्रिताः–दशमाश्चर्येणानुगताः, यथा नीचा अपि कश्चन राजादेरवष्टम्भेन महतामपि मूर्द्धानमा रुह्य पुष्यति । एवमेतेपि दशमाश्चयराजाश्रिता महामुनीन् परिभूय पुष्यन्तीत्यर्थः ।

पुनः किं विशिष्टाः ? सर्वाकृत्यकृतोऽपि–कोऽर्थः ? लोकलोकोत्तरविरुद्धा–ब्रह्म सेवनपुष्पफलाद्युपभोगाद्यसदाचारकारिणोऽपि सर्वमकृत्यं कुर्वन्तीत्यर्थः । सर्वत्रात्य गिताभवाः लोकममक्षम् अनिरुद्धपश्चाभवाः । पुनः किम्भूताः ? स्वविषयव्यासक्त सर्वेन्द्रियाः, स्वविषयेषु–स्पर्शादिषु व्यासक्तानि–विशपणलग्नानि इन्द्रियाणि–त्वगा दीनि येषां ते । पुनः किम्भूताः ? वल्गद्गौरवचण्डदण्डतुरगाः, वल्गन्तः–पदच्छया प्रसरंतः गौरवैः चण्डाः–उत्कटाः, दण्डाः–अकुशलमनोवाक्काया एव तुरगा येषां ते । पुनः किम्भूताः ? पुष्यत् कषायोरगाः सुपुष्टक्रोधमन्याः । एतावता पञ्चाश्रवविरमणे–पञ्चेन्द्रियनिग्रहे–दण्डत्रयविरति–कषायचतुष्टयजय–लक्षणसप्तदशविधसंयमविहीना अपि ते सत्साधूनतिक्रामन्ति, इति श्लोकार्थः ॥

इदानीं दुष्टयतिभ्यो गृहस्था एव श्रेष्ठा इति दर्शयितुमाह—

सर्वारम्भ–परिग्रहस्य गृहिणोऽप्येकाशनापेक्षता ॥ २३ ॥

व्याख्या—'सर्वारम्भ०' गृहिणोऽपि हृदि तीव्रानुतापो भवेत् । निष्ठुर पश्चात्तापो जायते । किं विशिष्टस्य गृहिणः ? न रक्षतः–न पालयतः, किम् ? एका

मनादि-एकभक्तादि, किं कृत्वा ? प्रत्याख्याय-नियम्य । क ? एकदा-अष्टम्यादि तिथिषु । यदि कश्चिद् गृहस्थः अष्टम्यादितिथिषु एकभक्तादेर्नियमं गृह्णाति पश्चात् तं-खण्डयति तस्य चेतसि महान् पश्चात्तापो भवतीत्यर्थः। किं विशिष्टस्य गृहिणः ? सर्वारम्भस्य परिग्रहस्य-सकलपापव्यापारतत्परस्य सदा-सर्वदा, ये पुनः त्रिधा-मनोवाक्कायारूपेण त्रिविधं-कृतकारितानुमतिलक्षणं पापं पट्ट कृत्वा-पट्टाराम् प्रतिदिन-प्रतिवासरं प्रोच्यापि उक्त्वाऽपि भञ्जन्ति-खण्डयन्ति तेषाम् असाधूनां क तपः ? तपो नास्ति, सत्यवचनं च नास्त्येव । ज्ञानिता-सिद्धान्तपरिच्छेदृत्वं च नास्ति । व्रत दीक्षा च नास्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥

देवार्थे-व्ययतो यथारुचिकृते सर्वर्तुरम्ये मठे ॥ २४ ॥

व्याख्या—'देवार्थे०' अहो ! इति आश्चर्ये सितपटाः-श्वेताम्बराः कष्टं व्रतं चरन्ति-दुष्करं चारित्रं अनुतिष्ठन्ति । किंविशिष्टाः ? साधुव्याजवशिठाः-यतिव्याजेन धूर्ताः । पुनः कथम्भूताः ? यथा रुचिकृते-स्वमनोभिलाषरूपे मठे नित्यस्थाः सर्वदा मनोरमजिनगृहनिवासिनः । किं कुर्वन्तः ? देवार्थे व्ययतः-तद्देवद्रव्यं व्ययं कुर्वन्तः । कथम्भूते मठे ? सर्वर्तुरम्ये-सकलवसंतादिऋतुमनोहरे । पुनः कथम्भूताः ? शुचिपट्टतूलशयना:-निर्मलपट्टवस्त्रयुत् तूलशयनाः कोमलशय्याशायिन इत्यर्थः। पुनः कथम्भूताः ? समृगन्दिकायासनाः-कोमलगन्दिकायासनमात्रः । पुनः कथम्भूताः ? सारम्भाः आरंभसहिताः । पुनः कथम्भूताः ? सपरिग्रहाः-धनधान्यादिभाण्डसंग्रहपरायणाः, सविषयाः-विषयासक्तचेतसः सेर्ष्याः-सक्रोधा । सकाङ्क्षाः सम्भोगविलासोत्कण्ठिताः, सदा-सर्वदा ॥ २४ ॥

इत्यापुद्गलसोपहासवचसः स्युः प्रेत्य लोकाः स्थितिं ॥ २५ ॥

व्याख्या—'इत्यापुद्गल०' येषां मिथ्योक्त्या-मिथ्यात्ववचनेन सुदृष्टोऽपि सम्यग्ज्ञाना अपि मनो भ्रमति-धारयति । कथम्भूतं मनः ? सन्देहदोलाचलं इदं समीचीनं इदं वा इति यः संदेहः स एव दोला-हिन्दोलकस्तेन चञ्चलं, ननु निश्चितं सर्वथा जिनपथप्रस्पर्धिनः, कोऽर्थः ? अर्हत्पथप्रमुभूताः लोकाः -जनाः स्थितिम्-भवाचाररूपां श्रुत्वा इत्यापुद्गलसोपहासवचसः स्युः, कोऽर्थः ? उक्तप्रकारेण सहास्यवचना भवेयुः-'अहो जैनाः अन्यथावादिनः अन्यथाकारिणः, अस्माकमेव दर्शनं श्रेयः, इत्यादि वचनसन्दर्भेण, अतो हेतोः मतिमन्ता अपि जनाः श्रुतवचाद्-जिनसिद्धान्त

मार्गाद् वैमुख्यं-विमुखतां आतन्वते-विस्तारयति । मिथ्यावादिनां मिथ्यावचनेन अभिमुखा अपि जना जिनमार्गाद् विमुखा भवन्ति, इति श्लोकार्थः ॥ २५ ॥

सर्वैरुत्कटकालकूटपटलैः सर्वैरपुण्योच्चयैः,

व्याख्या—'सर्वैरुत्कट०' ॥ २६ ॥ 'ततः' इति पदमत्र श्लोकस्यात्र वर्तते । ततो हेतोः-पश्चादुक्त हेतोः-अमु-दुर्मार्गम् आसेदुषां-प्रस्थितानां मानसं नूनं निश्चितं एतैः क्रूरमकारि-क्रूरं कृतम् एते के ? सर्वैः उत्कटकालकूटपटलैः अत्युग्रविषसमूहैः न केवलं उत्कटकालकूटपटलैः सर्वैः अपुण्योच्चयैः-सकलपापराशिभिः, न केवलमेतैः सर्वेषां सङ्क्लेश-अशेषसर्पसमूहैः, न केवलमेतैः समस्तविधुराधिव्याधिदुष्टग्रहैः सकलदुःखमनो व्यथामङ्गलादिपापग्रहैः । कथम्भूतानां ? दौरात्म्येन-दुरात्मत्वेन जिनपथं निजम्भु पाम्-उच्छेत्तुणां, पुनः कथम्भूतानाम् ? वचनेन इति ऋजुतार्थ-अभिदधुषाम् ॥ २६ ॥

अतः—

दुर्भेदस्फुरदुग्रकुग्रहतमः स्तोमास्तधी चक्षुषां ॥ २७ ॥

व्याख्या—'दुर्भेदस्फुरदुग्र०' अतो हेतोः सदा-सर्वदा मिथ्याचारवतां-मोक्षमार्गविपरीताचारयुक्तानां वचांसि सकर्णैः-सचक्षुः कथं कर्णे क्रियते ? कथं भवने धारयति ? अपि तु न कथमपि इत्यर्थः । कथम्भूतानां मिथ्याचारवतां ? स्वयं नष्टा नाम् पुनः कथम्भूतानाम् ? अन्यनाशनकृते-परनाशाय यतोद्यमानां स्वयम् नष्टा परा नपि नाशयन्तीत्यर्थः । पुनः कथभूतानां ? 'महामोहात्'घन-प्रचुरतरा-विवेकात्' 'अहं मानिनां'-अहमेव, नान्यः इति मानिनां । पुनः कथम्भूतानां ? सिद्धान्तद्विषतां-जिनशासनवैरिणाम् । पुनः कथम्भूतानां ? दुर्भेदस्फुरदुग्रकुग्रहतमःस्तोमास्तधीचक्षुषां-दुर्भेदाः दुश्छेद्याः स्फुरंतो-मनसि आग्रहरूपाः ये उग्रकुग्रहाः-जिनगृहनिवासादयस्त एव तमःस्तोमाः-अन्धकारपटलानि, तैरस्तं प्राप्तिं धीरेव चक्षुर्येषां तेषाम् ॥ २७ ॥

यत्किञ्चिद् वितथं यदप्यनुचितं यल्लोक-लोकोत्तरो ॥ २८ ॥

व्याख्या—'यत् किञ्चित्०' यत् कुधियः-कुबुद्धयः तच्चधर्मं इति ब्रुवन्ति-अयमेव धर्म इति कथयन्ति तत् दुरन्त-दुष्टमामर्षस्य विस्फूर्जितं-विजृम्भितं, तत्, किं यत् किञ्चित् वितथं-अलीकं यदिति सामान्यतो निर्दिष्टं विशेषतोऽनिर्दिष्टनामा, यदप्यनुचितम्-अयोग्यं यल्लोकलोकोत्तरोत्तीर्णं-जिनमार्गाद् बहिर्भूतं जिनप्रवचनबाह्य

जिनमार्गाद्वीतमित्यर्थः, यश्चाविनां-देहिनां यद्धेतुरेव येन संसारबन्धो भवतीत्यर्थः, यतः शास्त्रबाधाकरं-सिद्धान्तविरुद्ध न केवलं धर्म्मं इति कथयन्ति । अर्हन्मतभ्रान्त्या लान्ति च, क्षोऽर्थः ? जिनमार्गोऽयमिति मिथ्याज्ञानेन गृह्णन्ति च, कथम्भूतास्ते ? मूढाः ॥ २८ ॥

साम्प्रत मुग्ध जनान् प्रति स्वमतं मोक्षपथतया दिशत, सत्पथगामिनश्च धार्मिकान् स्ववचनाननुरोधित्वेनाज्ञतया अवजानानस्य कस्यचिद्यथा छन्दाचार्य प्राम ण्योऽप्रस्तुत प्रशंसया स्वरूपमाह—

कष्ट मदृष्टिर्यो नृणां यदिदष्टां कान्तारवैदेशिकः ॥ २९ ॥

व्याख्या—' कष्टं ' दुःखमेतच्चेतसि वर्तते, यस्किमित्याह—यदिति वाक्योप क्षेपे, यन्नृणामदृष्टां मार्गं वैदेशिकः कान्तारेऽभीप्सितपुराध्वानं प्रदिशतीति सम्बन्धः । तत्र ' नृणां ' पुंसां नष्टदृष्टां-अलोचनत्वात् कान्तारपातेन दिग्मूढत्वाच्च प्रनष्टप्राची प्रतीच्यादिककुब्विभागपरिच्छेदानां, अदृष्टां-काचकामलादिनां दृग्विकलानां, न तु जन्मान्धानां, जन्मान्धो च मामिष्यास्या लोचनरहितः । ननु सोऽपि तद्देशजात इतरेभ्यः श्रवणादिना विज्ञाय कथञ्चिदिष्टपुरपथं देश्यतीति तत्रोक्त " वैदेशिक " इति, विदेशे-योजनशतव्यवहिते देशान्तरे जातो वर्द्धितश्चेति वैदेशिकः । स हि तद्देशस्वरूपमात्रस्या प्यनभिज्ञत्वात्कथं प्रकृतमार्गं जानीयादपि । ततः कर्मधारयः । कान्तारे ' जनसञ्चार शून्ये दुर्गवर्त्मनि ' प्रदिशति ' प्रतिपादयति अभीप्सितपुराध्वानं-जिगमिषितनगरमार्गं, किलेति वार्तायां, उत्कन्धरः-उद्ग्रीवः क वराङ्गुलमग्र्य भुजदण्डमुत्क्षिप्य कथयतीति कष्टमेतद् । तु पुनरर्थे, [redacted] वक्ष्यमाण पुन कष्टतरं-पूर्वस्मादपि कष्टान्महाकष्टं, यत् किमित्याह-' सोऽपि ' प्रागुक्तो मार्गदेष्टा ' मुग्धो ' निर्मलनयनानव एव ' सन्मार्गगान् ' इष्टनगरसुगमपथप्रस्थितान् तद्विदः ' सम्यक्सन्मार्गज्ञान् यत् हसति, सावज्ञमिति क्रिया विशेषण, सावहेलं अज्ञानिव, यथा मार्गाभिज्ञा मार्गमुपदिशन्त उपहस्यन्ते लोकेन, तथैवेऽपि तेन । एवं प्रस्तुतमुपमान योजयित्वा प्रस्तुतमुपमेयमिदानीं योज्यते, कष्टमेतद्-' यत् नृणां ' सत्पथेप्सुपुरुषाणां नष्टदृशां-अतिमुग्धतया सत्पथकुपथविभा गानभिज्ञानात्, अदृशां सम्यग्ज्ञानदर्शनविकलानां आरप चा- सिद्धान्तरहस्यलेशज्ञान मिज्ञः सर्वथा अगीतार्थः, सोऽपि गीतार्थसंसर्गादेः कथञ्चि मोक्षपथकथनप्रवीणः स्या दत्राह-वैदेशिको गर्हिताचारत्वाद् गीतार्थानिपुणमपशब्दमात्रवर्जितः एव चाधुनिकदुस्साध प्रवरो निशङ्क निर्भयसपथप्रत्यर्थिमार्गकथनदीक्षितोऽय यथाछन्दशिरोमणिः कश्चिदा

चार्यो मन्तव्यः। कान्तारे-भवमहाटव्यां प्रविशति अभीप्सितपुराध्वान-मुक्तिमार्गं उत्कन्धरो-दर्शिताहङ्कारविकारः, तथा च सोऽगीतार्थः उत्सूत्रभाषको मिथ्यादृष्टिः कथञ्चिदपि सत्यं मोक्षमार्गं न वेत्ति, नाप्यन्येन गीतार्थेन प्रतिपादितोऽपि प्रत्येति इति कष्टं, एतस्मादपरं त्विति पूर्ववत्, सोऽपि प्रागभिहितो यथाच्छन्दाचार्यः सुदृशः-सम्यग्ज्ञानदर्शनयुक्तः मन्मार्थगान् ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणमुक्तिपथप्रवृत्तान् तद्विदो-मुक्तिमार्गविज्ञान् धार्मिकान् सुविहितसाधून् यत् हसति सावज्ञमज्ञानिव, यथा-अममी अगीतार्था मूर्खशिरोमणयः सिद्धान्तरहस्यं जानन्ति ?, अहमेव सकलश्रुतपारावारपारदृश्वा, ततो यदहं ब्रवीमि स मुक्तिमार्ग इति। किमित्येवमुपहसतीत्यत आह-सन्महाकष्टमित्युपमानोपमेययोस्तुल्यतया योजना। अत्र च मुग्धजनपुरतो निरङ्कुशं स्वकल्पितं चैत्यवासादिकमुत्सूत्रप्रपथं प्रथयद्भिर्विविधपापारम्भप्ररूपणानिपुणान्, सुगुरुसम्प्रदायानुवर्तिनः सुविहितानहत्योपहसन् सम्प्रति वर्तमानः कुसङ्घाचार्यवर्गोऽनया भङ्ग्या कविना प्रतिपादित इति हृदयार्थः ॥ २९ ॥

साम्प्रतं श्रुतपथाबकद्वारमुपसंजिहीर्षुः शुद्धजिनमार्गस्य दुष्टोपचितसमुदितकालकलापेन सम्प्रति दुर्लभत्वं प्रतिपादयन्नाह—

सैषा दुष्मावसर्पिण्यनुसमयह्रसदल्पभावानुभावा ॥ ३० ॥

व्याख्या—'सैषा दुष्मा'॥ एव अमुना प्रकारेण अनुकूल-प्रतिसमय दुष्टेषु-क्रूरेषु पुरुषेषु सत्सु जैनमार्गो दुर्लभः-अर्हत्पथो दुष्प्राप्यः, यदा तु क्रूराः पुरुषास्तदा जैन मार्गो दुर्लभो जात इत्यर्थः। एवं कथ ? सैषा दुष्मानाम्नी अवसर्पिणी-कालविशेषः। कथम्भूता-अवसर्पिणी ? अनुसमयं ह्रसदल्पभावानुभावा, अनुसमयं-प्रतिसमयं प्रतिक्षणं ह्रसन्-हीयमानः अल्पजनानां शुभभावस्यानुभावः-प्रभावो यस्यां सा। अयं त्रिंशत् उपप्रहृत्त।

जिनसिद्धान्तोक्ताष्टाशीतिग्रहमध्यात् त्रिंशतः पूरणो भस्मराशिः, कथम्भूतो भस्मराशिः ? ख-ख-नयमितिवर्षस्थितिः "पश्चानुपूर्व्या अङ्करचना ज्ञातव्या"। खं-शून्यं, तस्मात् पुनः खं-शून्य, तत् पश्चात्स्वं-विधुरेरेकः एतावत् (२०००) स्थितिः। अन्त्यदशमाश्चर्यं च असंयतपूजाऽनाचारप्रतिपादकमाश्चर्यं च तत्समा दुष्षमा च तेरेव-भस्मिभीमस्मराशिदशमाश्चर्यैः समा तत्समा दुषमा दुःखकारिणी, तस्यै जिनमतहतये-जिनमार्गोच्छेदनिमित्त यदैते दुष्टास्तदा जैनमार्गो दुर्लभ इत्यर्थः ॥ ३० ॥

एव तावदष्टादशभिर्वृत्तैः प्रबन्धेन लिङ्गिनां श्रुतपथावज्ञा प्रतिपादिता। संप्रति 'गुणद्वेषी'रिति द्वारं निराचिकीर्षुस्तेषां गुणद्वेष दर्शयन्नाह—

सम्यग्मार्गपुषः प्रशान्तवपुषः प्रीत्योल्लसच्चक्षुषः ॥ २१ ॥

व्याख्या—' सम्यग्मार्गपुषः० ' ॥ तयपूरूपः–प्रचण्डकोपाः सत्साधून् सुविहितयतीन् न क्षाम्यन्ति–न सहन्ते । किंविशिष्टान् सत्साधून् ? सम्यग्मार्गपुषः–ज्ञानादित्रयस्य मोक्षपथो[स्य]विस्तारकान् सम्यग्ज्ञान–सम्यग्दर्शन–सम्यक्चारित्रपथ पोषकान् । पुनः किंविशिष्टान् ? प्रशान्तवपुषः–रागद्वेषादिरहितशरीरयुक्तान् । पुनः किंविशिष्टान् ? प्रीत्योल्लसच्चक्षुषः–प्रसन्नोत्फुल्लनयनान् सर्वत्र सदयावलोकिन इत्यर्थः । पुनः किंविशिष्टान् ? श्रामण्यर्द्धिमुपेयुषः–पञ्चमहाव्रतसम्पर्धि आसदुषः–पञ्चमहाव्रतानि–प्राणातिपात–मृषावाद–दत्तादान–मैथुन–परिग्रहाणां त्यागस्तत्र सम्पर्धि उपगतानि–इत्यर्थः । पुनः किम्भूतान् ? संयमुषः–निरहङ्कारिणः । पुनः किम्भूतान् ? कन्दर्पकथ मुषः–न मयकुक्कुत्मदाहिनः । पुनः किम्भूतान् ? सिद्धान्ताध्वनि तस्थुषः–जिनोक्त सम्यग्मार्गे स्थितान् तत्परानित्यर्थः । पुनः किम्भूतान् ? क्षमाक्षुषः–क्षान्तियुक्तान् पुनः किम्भूतान् ? सत्पुण्यतां अग्मुषः–विवेकजनाराध्यत्व प्रापितान् । एव गुणविशिष्टानपि सद्भूयतीन् तयपूरूपः–प्रबलकोपाः न क्षाम्यति– न सहन्ते इत्यर्थः ॥ २१ ॥

देवीयत्युरुदोषिणः सदमहादोषानदेवीयति ॥ २२ ॥

व्याख्या—' देवीयत्यु० ' ' अहो ' इत्याश्चर्ये जनो–लोकः अगुणाश्रय अगुणमस्त्वार्थं स्व–आत्मानं कृतार्थीयति–कृतार्थमिवाचरति–आत्मानं विहितसकल–कर्तव्यमिवाचरति, कथम्भूतो जनः ? मिथ्यात्वग्रहिलः–प्रबलमिथ्यात्वगम्भीरः प्रब लमिथ्यात्वाभिनिवेशग्रहग्रहीतः । पुनः किं करोति ? उरुदोषिणः–प्रचुरापराधान् देवी यति–देवानिवाचरति, ये प्रबलदोषास्तान् । देवान्–जिनसरवान् मन्यत इत्यर्थः । पुनः किं करोति ? सदमहादोषान् प्रभ्रष्टप्रचुरापराधान् अदेवीयति–अदेवान् इवाचरति । पुनः किं करोति ? मूर्खमुख्यनिकर–महामूर्खसमूह सर्वज्ञीयति–सर्वज्ञमिवाचरति । पुनः किं करोति ? तत्त्वज्ञम् अज्ञीयति–षड्दर्शनवेत्तारं मूर्खमिवाचरति । पुनः किं करोति ? जैनमार्गम् कुमार्गीयति–कुमार्गमिवाचरति । पुनः किं करोति ? अपथं–अ मार्गं सम्यक्–पथीयति–सन्मार्गमिवाचरति । एतावता सर्वमेव विपरीताचरणमाचरती त्यर्थः ॥ २२ ॥

ये केचन दुष्पतिनो मुक्तमिवात्मानं मन्यन्ते तान् दूषयितुमाह—
सद्ध्याकृतचैत्यकूटपतितस्यास्त्वर्ता तान्वत ॥ २३ ॥

व्याख्या—' सद्ध्याकृ० ' अन्तर्दशिमतस्य कुतो मोक्षः ? अन्यत एव

हरिणा , तेषां समूहस्य कुतो मोक्षः—कुतो निर्वाणम् ? कथम्भूतस्य जन्तु हरिणव्रातस्य ? सङ्घव्याघ्रवक्त्रस्य उत्सूत्र प्रज्ञापकः स्वच्छन्दचारी विषयलोलुपः साधु-साध्वी-श्रावक श्राविकासमवायो मूषानिह सङ्घ उच्यते, स एव व्याघ्रः, यथा व्याघ्रा यचस्य हरिण व्रातस्य मोक्षः स्फुटनं न भवति तथैवेति । पुनः कथम्भूतस्य ? सङ्घा-श्रावकलोकेन कृतचैत्यकूटपतितस्य भक्त्या तदायत्तो कृतानि जिनगृहाणि, एतान्येव कूटाः मृगबंधन-यन्त्रविशेषास्तेषु प्रतिबद्धस्य । पुनः किं विशिष्टस्य ? अन्तस्तरां चेतोमर्मणि ताम्यतः सिद्यमानस्य मृगोऽपि बद्धः सन् चेतोमर्मण्यतितरां सिद्यति पुनः किं विशिष्टस्य ? स मुद्राद्रुढपाशव घनबद्धः सन्-तस्य सङ्घस्य मुद्रा चतुर्दश्यादिपर्वतिथयस्ता एव दृढ पाशाः, तैर्घ घन, तद्युक्तस्य । अत एव स्पन्दितु-चलितु अपि न शक्तस्य-न समर्थस्य । पुनः कथम्भूतस्य मुक्तये-मोक्षार्थं कल्पितदानशीलतपसः-विहितदेशचारित्रानघना देरपि । एतत्क्रमस्थायिनः-एतस्य-सङ्घस्य क्रमो-रात्रिस्नात्रादिका परिपाटी तदनुवर्तिनः । एतावद्-बन्धनयुक्तस्य तत्रापि संघशार्दूलवक्त्रस्य जन्तु-हरिणव्रातस्य कुतो मोक्ष ? न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ १३ ॥

इत्थ मिथ्यापथकथनया तथ्ययाऽपीह कश्चित् ॥ १४ ॥

व्याख्या—' इत्थ मिथ्या० ' ॥ इह-लोके इद अनुचितं-अयोग्य कश्चिन्मा शासीत् । इद जिनवचने-नोक्त संघपूजारूप अनुचितमिति मा कश्चिन्मस्त कुपा ? इत्थ-पूर्वोक्तप्रकारेण मिथ्यापथकथनया-दिगम्बरोक्तमिथ्यापथप्ररूपनया । कथम्भूतया ? तथ्ययापि-सत्ययापि । अथानन्तरं कश्चित् मा कुपत्-मा कोपं कार्षीत् । अथ यद्येवं मिथ्यापथकथनेन परेषां क्रोधशङ्का तदाऽसौ न कथनीय एवेत्याह-' यस्मा 'दिति यस्मात् कारणादेतत् किमपि दिग्मात्र कृपया-अनुकम्पया कथितं-सकृत-जल्पितं च-मतिमद्येनोक्त च । किं कृत्वा ? नॄन्-मानवान् प्रेक्ष्य-अवलोक्य । कथम्भूतान् नॄन् ? जैनभ्रान्त्या-' अय जैनमार्गः ' इति मिथ्याज्ञानेन कुपथपतितान्-कुमार्गप्रस्थितान् कस्मै कल्पित ? तत्प्रमोहापोहाय-तेषां नृणां प्रचण्डमोहनाशाय । यथाऽमी मूढाः कुपथ स्वरूप विज्ञाय तत्परित्यागेन सत्पथं गृहीत्वा संसारसागरं तरिष्यन्तीति कृपया जल्पितमित्यर्थः ॥ १४ ॥

किमपि दिग्मात्र जल्पितम् ? इति कथमुक्त यावता सकलमेव कथ नोक्त—मिति-अतः आह—

प्राग्बुद्धेऽनन्तकालात् कलिमलनिलये नाम भवध्यवताऽस्त् ॥ १५ ॥

व्याख्या—प्रोद्भूत० यः कश्चित् नृषु-मनुष्येषु कुबोधं निरसिसिषुः सन् कुदेश नोत्पादित दूरीकर्तुमनाः सन् दुरध्व-कुमार्गे दोषसंख्यां विवक्षेत्-'कुमार्गे एतावत्-संख्या को दोषः' इति वक्तुमिच्छेत् स पुमान् अम्भोऽम्भोधेः प्रमित्सेत्-प्रमातुमिच्छेत्। वेति पक्षान्तरं सकलगगनोल्लङ्घन विधित्सेत्-सकलाकाशस्यातिक्रमणमिच्छेत्। योऽम्भोऽम्भोधेरप्याहरत्, यश्च समस्तगगनस्योल्लङ्घन करोति सकुमार्गे दोषसंख्यां वदति, अतो दिग्मात्र प्रलपितमिरयुक्तं, तस्मात् कुबोध निरसिसिषुः कारुण्यात्-'माऽमी संसारसागर ब्रुडन्तु' इति कृपातः कथम्भूते दुरध्वे? अनन्तकालात् प्रोद्भूत-अनन्तवर्षमाप्रादिहेतुना संबाधे, कलिमलनिलये-दुःखमहापातकनिवास। पुनः कथम्भूते? नाम नेपथ्यतः-नाममात्राचरणतः अर्हं मार्गभ्रान्ति-सात्त्विकजिनमार्गभ्रान्तय दधाने-बिभ्राणे। पुनः किम्भूते दुरध्वे? तत्त्वतः-परमार्थतः तदभिमरे-अर्हं मार्गघातक यथा अभिमराः प्रच्छन्न घातकाः स्ववेषेण राजादिकं हन्तुमशक्नुवन्तो वेषपरिवर्तनं कृत्वा राजादिकं निघ्नन्ती तथा-एतेऽपि गृहस्थवेषेणार्हं मार्गोच्छेदं कर्तुमपारयंतो यति-वेषेणोच्छेदयन्तीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

न सावद्याम्नाया न बकुश-कुशीलोचितयति, ॥ ३६ ॥

व्याख्या—तथा 'न सावद्या०' इह-प्रवचन एते यतय-साधवः अद्यापि दुःषमा कालेऽपि सन्नरतयः स्युः-सिद्धान्ताध्ययनाध्यापन-व्याख्यान-श्रवणपरायणाः भवेयुः। किम्भूता? येन सावद्याम्नायाः न सपापसंप्रदायाः। पुनः किम्भूताः? न बकुशकुशीलो चित यति-क्रियायुक्ताः बकुशं शबलमतिचारेण समलं प्रक्रमाच्चारित्रं, तथा कुत्सितं चरणं येषां, तेषामुचिता-योग्या[क्रिया]साधु-सामाचारी तया न युक्ता-न सहिताः, कुत्सितयति क्रियारहिता इत्यर्थः। पुनः किंविशिष्टाः? मदममताजीवनभयैः-न युक्ताः-जात्यादि मदममता-गृहस्थादिषु जीविकानिर्वाहस्तस्मात् भय येषां ते तादृशा न। पुनः किं विशिष्टाः? न सक्लेशावेशा-न रौद्राध्यवसायोपेताः, पुनः किं भूता 'न कदभि निवेशाः' न कुत्सितमानसा आग्रहवन्तः, पुनः कथं भूता? न कपटप्रियाः न माया बहुमाः, एतावता दुःषमाकालप्रभावात् अ यत्कर्तुमपारयत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

संविग्नाः सोपशमाः मुक्तकल्पमितः क्षेत्र-कालभयपेक्षा ॥ ३७ ॥

व्याख्या—'संविग्नाः सो०' अस्मिन्-जिनशासने सत्साधवः-सुविहित मुनयः सन्त्याः। किंविशिष्टाः सत्साधवः? संविग्नाः-निर्वाणेच्छवः। पुनः किंविशिष्टाः?

सोपदेशाः—धर्मोपदेशतत्पराः। पुनः किंविशिष्टाः ? श्रुतनिकषविदः—शास्त्ररहस्य निपुणाः पुनः किम्भूताः क्षेत्रकालाद्यपेक्षानुष्ठानाः—देशकालानुसारेण विहारादिक्रियारम्भिणः। पुनः किंविशिष्टाः ? शुद्धमार्गप्रकटनपटवः—यथार्थश्रुतपथप्रकाशनदक्षाः यथार्थमेव मार्गं पथ प्रकाशयन्तीत्यर्थः। पुनः किंविशिष्टाः ? ग्रस्तमिथ्याप्रवादाः—दूरीकृतमिथ्या प्रलोकयः। पुनः किम्भूताः ? नियमक्षमदमेत्यादि—नियमो—द्रव्याद्याग्रहः, क्षमः—कषायनिग्रहः,—दम—इन्द्रियदमनं औचित्य—सर्वत्र योग्यतानुसारेण विनयादि प्रयोक्तृत्वं, गाम्भीर्यं—प्रलुब्धहर्षादिविकारत्वं, धैर्यं—विपत्सु अपि अविखिन्नस्य चेतसोऽवैक्लव्य, स्थैर्यं—विचार्य करणीयकारित्व, औदार्यं विनयादिनाऽध्यापनवितरण, आर्यचर्या—सत्पुरुषक्रमप्रवृत्तिता, विनय—अभ्युत्थानादिना गुरुषु प्रतिपत्तिः, नयो—लोक लोकोत्तराविरुद्ध वर्तित्व, दया—दुःस्थितादिदर्शना[दा]र्द्रान्त [करणत्व] इति दाक्ष्य धर्मक्रियासु नालस्य, दाक्षिण्य सरलचित्तता, तत्तो द्वन्द्वसमासः, एभिर्गुणैः पुण्याः पवित्राः। ईदृशाः साधवो वन्दनीया इत्यर्थः ॥ १७ ॥

सांप्रत प्रकरणकारः प्रकरणं समाप्नुवन्—इष्टदेवता—व्याजेनावसानमङ्गल, स चार्थं चक्रबन्धेन स्वनामधेयमाविर्भावयितुमाह—

विभ्राजिष्णुमगर्वमस्मरमनासाद श्रुतोत्सङ्गे ॥ १८ ॥

व्याख्या—अह जिन वन्दे—तीर्थङ्करं नमस्करोमि। किम्भूत ? विभ्राजिष्णु—अत्यन्तं विराजमानम्। पुनः किम्भूत ? अगर्वं गर्व रहित। पुनः किम्भूतं ? अस्मरं—जितकन्दर्पं। पुनः किम्भूत ? अनामादम्—अवमत्सराभावम्। पुनः किम्भूतं ? श्रुतोत्सङ्गे सद्ज्ञानप्रमर्पि—प्रालोत्सङ्गे केवलज्ञानरूपं। पुनःकथम्भूतं ? वरवपुःश्रीचन्द्रिकामेयर्य—श्रेष्ठशरीर—कार्तिककौमुदीनक्षत्रनाथ, पुनः किम्भूतं ? वर्ण्यं—स्तुत्य, कथम् ? अनेकधा—बहुधा, कैः ? असुर नरैः—देत्यमनुष्यैः, न कवलदैत्यमनुष्यैः शक्रेण च—इन्द्रेण च। पुनः कथम्भूत ? एतच्छिद्—पापच्छचारं। पुनः कथम्भूत ? विदुषां—पण्डितानां दम्भारिं—पापणखर्तुं पुनः कथम्भूतं ? सदा—सर्वदा एकान्तरङ्गप्रदं, केन ? सुवचसा—मधुरगिरा सदसन्नित्यादिरूपतया अनेकान्त रङ्गप्रदातारम्। अत्र श्लोक सपत्नन चक्र च उद्भावनीयः ॥ १८ ॥ चक्रमिदमासन्नम् ॥

जिनपतिमतदुर्गे कालतः साधुवेधैः, ॥ १९ ॥

व्याख्या—'जिनपतिमतदुर्गे०' अधुना—इदानीं तैर्विधयिभिः इयं स्वगच्छस्थितिः मयापि विस्तारिता। कस्मै ? स्वार्थसिद्ध्यै—निजकार्यनिष्पत्तये, कस्त स्वकस्य

मनमञ्जानां शृङ्खलेव आत्माऽऽयत्ती कृता ये मुग्धजना: तेषां बन्धनाय शृङ्खलेव-निगड इव । कस्मिन् सति ? साधुवेषैः-धूर्तैः जिनपतिमतदुर्गे-अर्हच्छासनप्राकारे अभिभूते सति, अर्हच्छासनमेव दुर्गं प्राकारः "कोट" इति भाषया तस्मिन् विषयिभिः-कामिभिः उपद्रुते सति यदा भगवच्छासनमेव दुर्गं प्रकारः धूर्तैः उपद्रुत तदा तैः धूर्तैः इयं गच्छ स्थितिः निजगच्छ-मुद्रा विस्तारितेत्यर्थ । कुतः अभिभूते सति ? कालतः दुःषमाकाल दोषात् । कैः ? भस्मकम्लेच्छसैन्यैः, यथा म्लेच्छसैन्यं कस्मिमश्चिदपि दुर्गे स्वभुजबलेन गृहीते द्रव्यार्थं तदन्तर्वर्तिनागरिकलोकबन्धनाय शृङ्खला प्रसारयति च तथा लिङ्गिनः स्वकार्यार्थं मुग्धजनबन्धनाय गच्छस्थितिं प्रसारितवन्त इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

संप्रत्यप्रतिमे कुसङ्घवपुषि प्रोज्जृम्भिते भस्मक ॥ ४० ॥

व्याख्या 'संप्रत्य—प्रतिमे०' ॥ इत्थ-अमुना प्रकारेण लोकैः वयं कदर्थ्यामहे-उपहस्यामहे । कया ? सदागमस्य कथयापि-शुद्धसिद्धान्तधर्मस्य देशनाविचारमात्रेणापि । किं कृत्वा ? एकीभूय-एकमतं कृत्वा । कथम्भूतै लोकैः ? तदाज्ञापरैः-मोहराजाज्ञापरैः । कस्मिन् सति ? मोहराजकल्के प्रौढिं वपुषि सति, कोऽर्थः ? मिथ्याज्ञान राजसैन्ये प्रौढतां याति सति । न केवलं मोहराजकल्के प्रौढिं वपुषि सति प्रागुक्तकुसङ्घ शरीरे प्रोज्जृम्भिते सति-अभ्युदये सति, पुनः कस्मिन् सति ? दुरन्तदशमाश्चर्यम्-असंयतपूजालक्षणम्, तस्मिन् विस्फूर्जति सति । कुसङ्घवपुषि । किम्भूते ? संप्रति-अधुना अप्रतिमे-असदृशे कथम्भूते दशमाश्चर्ये ? भस्मकम्लेच्छातुच्छबले-भस्मराशिग्रहरूपाधिपतिसैन्यैः-भस्मको भस्मराशिग्रहः, स यथार्हच्छासनरतानामेकशाधाविधायित्वात् म्लेच्छाः-तुरुष्कास्तेषां सैन्यैः । यथा कश्चि महाराजाधिराजो म्लेच्छमहासामन्तैर्भूमण्डलं साधयति तथा अयमपि मोहराजा भस्मकादिभिर्जिनशासनमविलङ्घयतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

वृत्तिकार-प्रशस्तिः ।

क जिनवल्लभसूरिसरस्वती, क च शिशोर्मम वाग्विभवोदयः ।
सुकृतबोधरिमां सुजनाः सदा भवभयो कृतुकात् प्रकरिष्यथ ॥ १ ॥

श्रीवीरदास इति वीरजिनेश्वरस्य, पादाब्जपूजनपरायणचित्तवृत्तिः ।
श्रीमानभूदमलकीर्तिविलासकेन, येनावृतं जगदिव करुणात्मकेन ॥ २ ॥

तस्यात्मजोऽभवदनन्तगुणाः समय-सम्यक्त्वसंमदविवर्जितपुण्यराशिः ।
श्रीमन् हमीर इति वीरतरः शरीरः, बाढ् कर्मेन्द्रिरनिश जिनपूजमायः ॥ ३ ॥

यस्तुभ्रोऽपि पवित्रकर्मनिरतः सद्विद्यया सर्वतः,
ख्यातः पोरवशापनोऽप्यरचयत् टीकां स्फुटार्थाभिधाम् ।
लक्ष्मीसेन इति प्रसिद्धमहिमा देवान् गुरूनर्चयन्,
श्रीमाञ्जीवदयापरः परपरीतापार्तिहन्ता नरः ॥ ४ ॥

" अथ समर्पणा–

विमले श्रावणमासे, वर्षे त्रि–महिषु–चन्द्र–(१५११) संगुणिते ।
कृतवान् लक्ष्मीसेन,–टीकां श्रीसङ्घपट्टकस्य " ॥ ५ ॥ ग्रन्थांक ५०१ ॥

॥ इति श्रीलक्ष्मीसेनकृता श्रीसङ्घपट्टकटीका सम्पूर्णा ॥

अर्हम् नमः ।

श्रीजिनवल्लभसूरिविरचितः

श्रीहर्षराजोपाध्यायविहितलघुवृत्तियुतः

श्रीसंघपट्टकः

वन्दे शान्तिजिनं शान्ति-कर्तं कर्मोत्करोज्झितम् ।
महोदयेन्दिरोदारं, विमलज्ञानपावकम् ॥ १ ॥

मित्वा दुष्कर्मदुर्गे श्रमदमसमदः साधिकाद्यप्रमाध्ये-
ऽर्थे तीर्थेङ्करश्रीः स्वरतिपदवती लीलया येन लभ्यः ।
भक्तेस्तस्य प्रवक्ता स गुरुमविरतो ! हृद्गतस्त्वं हि तावत्-
स्तेनार्क मां कुरुष्व स्वविमलकमलाकूल वर्द्धमानः ॥ २ ॥

जिनवल्लभसूरीन्द्रैः, कृतः श्रीसङ्घपट्टकः । तद्व्याख्यामल्पधीः कुर्वे, वृद्धटीकाऽनुसारतः ॥३॥

व्याख्या—अथ 'सङ्घपट्ट[क]' इति कः शब्दार्थः ?, उच्यते—'सङ्घस्य' ज्ञानादिगुणसमुदायरूपस्य—साध्व्यादिचतुर्विधस्य 'पट्टको' व्यवस्थापत्रं, यथा राजादयः स्वनियोगिभ्यो व्यवस्थापत्रं प्रयच्छन्ति 'अनया व्यवस्थया युष्माभिर्व्य वहर्त्तव्य'-मिति, एवमिहापि साक्षाद्विपक्षदोषदर्शनद्वारेण स्वपक्षशुद्धसङ्घस्य व्यवस्था वक्ष्यमाणा दर्श्यत इति सङ्घपट्टकः । तत्रादि-वृत्तम्—

वहिव्याजाघटीव कुपथमथनपीमादुरस्तोकलोकः ॥ १ ॥

व्याख्या—'स्तुमः' प्रणुमः, अस्मत् च—प्रयुज्यमानेऽप्युत्तमपुरुषप्रयोगकथना द्वयमिति कर्तृपदं स्वयमिह ज्ञेयं, कं ? देवं, दीव्यते—स्तूयते शक्रादिभिरिति देवः स चात्र प्रकरणात्—भविष्यद्देवतासेन स्वपार्श्वस्थाजिनः, सोऽपीह कमठतपोदुष्टतास्पष्टनलक्षणा साधारणविशेष[ण]योगात्पार्श्वनाथः । तं देवं स्तुमः, यो'ऽनागतेव' प्रतिपादयामासेव । इव शब्दो[ऽत्र उ]त्प्रेक्षाद्योतकः । किं ? इति तदेवाह—विधुरमित्यादि । 'प्राज्ञैः' प्रेक्षावद्भिः 'कार्यं' विधेय 'कुपथस्यसनं' सूर्यसामर्थ्येन पूर्वापराऽविरुद्धवादिशास्त्रविरुद्धमतनिराकरण ।

किं कृत्वा ? 'प्रपद्य' अङ्गीकृत्य, किं ? ' विधुरमपि—व्यसनमपि । अपिः सम्भावने, एतत्सम्भावयति सति सामर्थ्ये स्वापायाशङ्कया कुपथस्खलनाऽप्यधीरस्त्वनन्तजीवसंसार कारणत्वेन महतेऽनर्थायेति । कस्य विधुरं ? 'स्वस्य' आत्मनः कथं ? सपत्स्वत्वस्वभावात् । किलेत्याप्तवादे । कस्मादेव भगवदेव ? इत्यत आह—कारुण्यामृताब्धिः—'कथमयं जनो मया कुमार्गपपाटुद्धरणीयः' इति कृपापीयूषसागरो भगवान् । नहि लोककृपां विना कश्चित्स्वकष्टमङ्गीकरोति । किं कुर्वाण एव भगवदेव ? इत्यत आह—'स्पष्टयन्' प्रकटी कुर्वन्, किं ? कमठमुनितपः—कमठाभिधान—लौकिक—तपस्वि—पञ्चाग्निरूप—कष्टानुष्ठान 'दुष्टं' प्राणिवध—लाभ—पूजा—ख्यातिकामनादिदोषयुक्तं । कथं दुष्टं ? उच्चैरतिशयेन । किं कृत्वा ? 'सन्दर्श्य' दर्शयित्वा, कं ? 'नागं' पञ्चाग्नितपोनिमित्तज्वलिताग्निकुण्डान्तर्वर्ति काष्ठकोटरमध्यगं भुजङ्गं । किं विशिष्टं ? 'वह्निज्वालावलीढं' निरन्तरं प्रज्वलद्वह्निज्वाला-व्याप्तं अर्धदग्धमिति यावत् । क ? 'अग्रे' पुरतः, कस्याः ? 'मातुः' स्वजनन्याः, न केवलं मातुः, तथा समस्तलोकस्य । कस्मात्सकलजनमध्ये भगवांस्तत्तपस्तिरश्चकार ? यतः 'कुपथमथनधीः' असन्मार्गोच्छेदकः । एवं ज्ञानबल—ज्ञातकमठविधास्यमानजलधर धारासम्पातादिस्वापायाभ्युपगमेनापि कमठतपसो दुष्टत्वं स्पष्टयताऽपादिष्टप्रस्थापादि-पत् मद् वद् भवद्भिरपि कुमार्गस्खलनं स्वकष्टाङ्गीकारेणापि कार्यमिति वृत्तार्थः ॥ १ ॥

तदेवमिष्टदेवतास्तवमभिधाय—इदानीं सद्धर्म्यवस्तूपदेशतत्त्वं कथनीयं, तच्च योग्यपुरुषस्य प्रतिपाद्यमानं साफल्यमासादयेत्, तेनोपदेशरहस्यश्रवणयोग्यं श्रोतारं निरूपयितुमाह—

कल्याणाभिनिवेशवानिति गुणग्राहीति मिथ्यापथ ॥ २ ॥

व्याख्या—' उच्यसे ' उपदिश्यसे, त्वमिति युष्मदो श्रोतृनिर्देशः, मयेति कर्तुरात्मनिर्देशः । ततश्च भोः श्रोतः ! मया त्वं सद्धर्म्यवस्तूपां प्रतिपाद्यसे इत्यर्थः । कस्मात् ? इत्याह—कल्याणाभिनिवेशवानिति । इति शब्दा अत्र सर्वेऽपि हेत्वर्थाः । कल्याणः—शुभोऽभिनिवेशः—आग्रहः, सद्ग्रह इत्यर्थः, तद्वान्, सद्ग्राहिणो हि सदुपदेश रत्नभवये परमानन्दः समुल्लसति १ । तथा गुणग्राहीति—अल्पीयसोऽपि गुणस्य ग्रहण प्रवणः, दोषैकग्राहिणो हि अविद्यमानेऽपि दोषे तद्ग्राहकत्वमेव स्यात् २ । तथा मिथ्या पथप्रत्यर्थीति, मिथ्यापथो वक्ष्यमाणो यथाछन्दप्ररूपितोत्सूत्रमार्गः तस्य ' प्रत्यर्थी ' विरोधी, उत्सूत्रमार्गं श्रोतुमप्यनिच्छुः, उत्सूत्रपथाभिलाषुकस्य यथार्थसिद्धान्तोपदे शप्रयासाय स्यात् ३ । तथा विनीत इति गुर्वादिष्वभ्युत्थानादि करणलालसः, विनीतायैव

गुरवः सिद्धान्ततत्त्वं कथयन्ति ४ । तथा अशठ इति-ऋजुस्वभावः, गुर्वादिषु वीचिका (निद्रिः ति) निष्पक्षप्रवृत्तिरित्यर्थः, शठो हि न विद्यायोग्यः ५ । तथा औचित्यकारीति च लोकागमाविरोधेन गुर्वादिषु यथानुरूपं विनयादिप्रवृत्तिरौचित्यं, तत्करणशीलः, औचित्य-हीनस्य शेषगुणाः सन्तोऽपि काशकुसुमसङ्काशाः ६ । तथा दाक्षिण्यीति, दाक्षिण्य-मनुकूलता-जनचित्तानुवर्तित्वं, तद्वान्, निर्दाक्षिण्यो हि बन्धूनामप्युद्वेगकृत् ७ । तथा दमीति-जितेन्द्रियः, अजितेन्द्रियो हि गुरुसभायामपि मन्दायते ८ । तथा नीतिभृदिति-सदाचारपरायणः, तद्वतो हि सर्वेऽपि साहाय्यं मन्यन्ते [संदधते] ९ । तथा स्थैर्यीति, स्थैर्य-कार्यारम्भेऽनौत्सुक्यं, तद्वान्, उत्सुका हि तामस्येन कार्यमारभमाणाः शास्तारमप्युद्वेजयन्ति १० । तथा धैर्यीति, धैर्य-आपत्स्वपि मनसोऽक्षोभ्यत्वं तद्वान्, अधीरोऽपि विघ्नाकुलितचेता गुरुमपि हीलयति ११ । तथा सद्धर्मार्थीति, स [त्] न् (?)-शोभनो धर्मो लोकप्रवाहरहित आज्ञानुगतः शुद्धो मार्गः तस्यार्थी-गवेषकः १२ । तथा विवेकवानिति, पारिणामिक्या बुद्ध्या युक्तायुक्तविमर्शो विवेकः, तद्वान् १३ । तथा सुधीरिति, सुधीः-प्राज्ञः, मन्दो हि वक्ताऽपि गुरुर्न किञ्चित्संस्कारमाधातुमिष्टे १४ । तदेव पूर्वोदित सकलगुणग्रामसम्पन्नः त्वं भोः श्रोता !, ततो मयोपदेशसर्वस्वं श्रूयताम् इति वृत्तार्थः ॥२॥

इदानीं योग्यश्रोतारं प्रति यदुद्दिश्य तत्प्रस्तावनामारचयितुं वृत्तद्वयमाह—

इह किल कलिकालव्यालवक्त्रान्तराल ॥ ३ ॥
प्रोत्सर्पद्भस्मराशिग्रहसबलसमाक्रान्तसाम्राज्यपुण्यम् ॥ ४ ॥

व्याख्या—एवं स्थिते भाविवर्गे सति साधुवेषैः सोऽयं 'पन्थाः' मार्गः अप्राथीति सम्बन्धः । 'प्रतानि' विस्तारितः, कोऽसौ ? 'पन्थाः' स्वेच्छाकल्पित मत 'स' इति सकलजनप्रसिद्धः 'अय'मिति इदानीं प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणः । कथमप्राथि ? 'अभितः' समन्तात् भूरिदेशव्याप्त्येत्यर्थः । कैः ? साधुवेषैः, साधोः सुविहितस्येव वेषो-रजोहरणादि नेपथ्यं, न त्वाचारो, येषां ते तथा, तैः मुनिलिङ्गमात्रधारिभिः । कुत एवमित्याह-विषयिभिः, विषयन्ति-सम्बारमुक्ता बध्नन्ति आसेविन प्राणिनमिति विषयाः-शब्दादयः तद्वद्भिः, विषयासक्तो हि यतीनां दीक्षया विरुध्यते । किंरूपः पन्थाः ? [जिनोक्तिप्रत्यर्थी] जिनानामुक्ति-र्वचनमागमः तस्य 'प्रत्यर्थी' विरोधी । कस्मादेवं विधः पन्थाः प्रथितस्तैः सङ्क्लिष्टेत्यादि, सङ्क्लिष्टः-सातत्येन धार्मिकमनोपतापकर्ता रौद्राध्यवसायवान्, द्विष्टो-मत्सरी-गुणवत्सु गुणव्यसनमगुणबुद्धिः मूढो-हेयोपादेयविमर्शशून्यः, प्रसक्तः-प्रकर्षेण पिशुनः गुणवत्सु गुणासद्भूपारोपणचतुरः, मन्दो-दुर्मेधा यो मन-स्वतामेव

चतुर्विधः स सङ्घस्तस्याम्नायः—शिष्यप्रशिष्यादिसन्तानः तत्र रक्ताः—प्रीतिमन्तः, यद्वा सङ्घक्रियादिविशेषणोपेतो जनो नाम सुविहितसङ्घस्तस्याम्नायो गुरुपारम्पर्यागतश्रुतविद्या-धारणा, तत्र रक्ताः—पक्षपातिनस्तैः, न हि स्वमतश्रवणाचरितं प्रामाण्येन प्रतिपद्यन्ते, अत एव एवंविधा जिनोक्तप्रस्पर्धिनमेव मार्गं प्रथयन्ति। अथ दीप्यमाने सूर्ये इव पारमेश्वरे पथि कुत एव प्रथनस्य तमस इवावकाशस्तत्राह—‘ जगति ’ लोके ‘ विरलतां ’ स्तोकतां—अस्वजनाभ्युपगमनीयतां ‘ याति ’ प्राप्नुवति मति। कस्मिन्? जैनेन्द्रमार्गे—भगवत्प्रणीते सूत्रे प्रतिस्रोतसि पथि। कस्मादेतत्? इत्यत आह—प्रोत्सर्पदित्यादि, प्रोत्सर्पत्—श्रीवीरमुक्तिसमय सञ्जन्मराशिसङ्क्रान्त्या तत्प्रभृतसङ्घस्य बाधाविधायित्वात् प्रोज्जृम्भमाणो भस्मराशिनामा—मङ्गलादिवत् क्रूरग्रहस्तस्य ‘ सखा ’ मित्र, राजादित्वात्। ततश्च प्रोत्सर्पद्भस्मराशिग्रहमख्यं यद्दशमाश्चर्यम्—असंयतपूजालक्षणं। अत्र च तस्य भस्म-राशिदशमाश्चर्ययोर्लौकिकसखयोरिव द्वयोरपि साहचर्येण दुष्ट[ऐकका]र्यकारित्व यथा-छन्दप्रावल्यकारित्वेन मिथ्यात्वपोषस्तस्य साम्राज्यमिव, साम्राज्यं यथा राज्ञः कस्यचित् सकल—मण्डलाधिपत्यं[विपुणि]प्रयपुरस्सरमाश्चर्यं साम्राज्यमुच्यते, एवमिहापि सुविहित जन—तिरस्कारेण सकललोकस्यासंयतजनपदपतित्व दशमाश्चर्यस्य साम्राज्य, तेन ‘पुष्यद्’ एधमान—वर्द्धमानं ‘मिथ्यात्व’ अतत्त्वे तत्त्वप्रतिपत्तिरूपं, तदेव ‘ध्वान्तं’ अन्धकारं, सम्यग्ज्ञानावलोकन—निरासक्षमत्वात्, तेन ‘रुद्धे’ व्याप्ते जैनेन्द्रमार्गे। अथ क सति जैनेन्द्रमार्गे। मिथ्यात्व[ध्वान्त]रुद्धस्यास्य विरलतां प्राप्ते? इत्याह—इह किलेत्यादि इह—जगति, किल—यच्छब्दार्थस्तस्याग्रे वक्ष्यत, प्राणिवर्गे—मानवसमुदाये सति। किंरूपे? लोकोत्तरया कलिकालो जिनोक्तया दुःषमाकालस्तेन, कलिकाल एव—दुःषमाकाल एव निखिलानाचार मरलनिलयत्वाद् व्यालः—सर्पस्तस्य ‘वक्त्रान्तराल’ वदनमध्य, तत्र स्थिति’ अवस्थान ‘सुस्थित’ सतत यः तस्मिन्। अत एव तत्त्वेषु भगवत्प्रणीतेषु जीवाजीवादिषु ‘प्रीतिः’ एतान्येव वास्तवानि तत्त्वानि, न तु कुतीर्थिकप्रणीतानि, [इति] चेतसः प्रमोदः। तथा ‘नीतेः’ न्यायस्य—सदाचारस्य ‘प्रचारः’ प्रवृत्तिः। ततश्च गतौ—यथाक्रम कुदर्शनाभ्यास—दुर्विदग्धत्वेन प्रमादाक्रान्तत्वेन च नष्टौ [तत्त्व]प्रीति—नीति—प्रचारौ यस्य स तथा, तस्मिन्। तथा, ‘प्रसरत्’ तथाविधगुरुसम्प्रदायाभावात्—प्रादुर्भवद् ‘ अनवबोधः ’ सम्यक्-सिद्धान्तार्थापरिज्ञान, तेन परिस्फुरन्तः कापथानां ‘ओघाः’ समूहास्तैः ‘स्थगितः’ तिरस्कृतः सुमतेरपवर्गलक्षणायाः ‘सर्गो’ निष्पत्तिर्यस्य स तथा, तस्मिन्। ‘सम्प्रति’ इदानीं। किलेति सम्भावने, सम्भाव्यते एतत् यत्कलिकालानुभावात् सम्प्रत्येवंविधे प्राणिवर्गे इति वृत्तद्वयार्थः ॥ ३–४ ॥

इदानीं योग्ययोतुरग्रे साधुवेषकल्पिते पथि दर्शनिभिर्द्दीरैः तत्प्ररूपितं धर्मं कथयन् तस्य च कर्मनिर्मूलनक्षमत्वमसम्भावयन् इदमाह—

यत्रौद्देशिकभोजनं जिनगृहे वासो वसत्यक्षमौ ॥ ५ ॥

व्याख्या—अत्र पथि अयं धर्मः—चेत्कर्महरो भवेत् तदा मेरुरब्धौ तरेदिति सम्बन्धः। ‘अत्र’ अस्मिन् प्रत्यक्षोपलभ्यमाने ‘पथि’ मार्गे-लिङ्गिकल्पिते मते धर्म औद्देशिकभोजनादिः, अयं ‘चेत्’ यदि ‘कर्महरो’ ज्ञानावरणादिध्वंसदक्षो ‘भवेत्’ स्यात् तदानीं मेरुर्लक्षयोजनमानः—पर्वतराजः ‘अब्धौ’ सागरे तरेत्। अयं च ‘निदर्शना’ लङ्कारः—तत्रायमर्थः—समुद्रे पाषाणखण्डस्य तरणमसम्भवि किं पुनर्मेरोः ?, ततो यथा मेरोः समुद्रतरणमघटमानं एवमस्य धर्मस्य कर्महरत्वमिति। ‘यत्र’ यस्मिन्पथि, किं ? यतीनामौद्देशिकभोजनादिर्धर्म इष्यत इति सर्वत्र क्रियाऽध्याहारः। तथा ‘उद्देशेन’ विकल्पेन—यतीन्मनसि कृत्वा निवृत्त—निष्पादितं औद्देशिकं। क्रीतादिकत्वात्—इकण्। तच्च तद्भोजनं चाशनादि। यद्यपि सिद्धान्ते औद्देशिकशब्द उद्गमदोषद्वितीयभेदार्थः श्रूयते, तथापीह वक्ष्यमाणहार्थपर्यालोचनेन आधाकर्मणि वर्त्तते, तस्यैवेह केवल यतिनिमित्त विधीयमानत्वेन महादोषतया विवक्षितत्वात्, तदन्ननिवृत्तस्य च सामान्य व्युत्पत्त्यर्थस्योभयत्रापि समानत्वात्। अत्र यतीनामौद्देशिकभोजनग्रहणे यथाछन्दा युक्तिं दर्शयन्ति—पूर्वं हि बहवोऽत्यन्तं दानश्रद्धालवः श्राद्धा अभूवन्, तेन यतीनां प्रासुकैषणीयेनापि भैक्ष्येण निराबाधं निर्वाहोऽभूत्, इदानीं दुष्षमाकालदोषात् दरिद्रतां भक्ततां च गच्छत्सु श्राद्धेषु ऐदंयुगीनमुनीनां तथाविधशक्तिसंहननविकलानां शुद्धेन भक्तादिना संयमनिर्वाहाभावे यदि कश्चिच्छ्रद्धालुस्तीर्थाविच्छेदमिच्छुः श्राद्धः साधु सङ्घनिमित्तकृतभक्तादिनाऽपि धर्माधारं शरीरमवष्टम्भयेत् तदा को दोषः ? आत्मा च यतिना यथा कथञ्चन रक्षणीयः, तस्माद्यतीनामाधाकर्मिकभोजनमदुष्टं, संयम-शरीरोपष्टम्भकत्वात्, कल्पग्रहणवच्छुद्धभोजनवद्वा। तथा यतिभिराधाकर्मिकभोजनं विधेयं, श्राद्धश्रद्धावृद्धिहेतुत्वात्, धर्मदेशनवदिति प्रयोगावप्युपपद्येते १। तथा ‘जिनानां’ अर्हतां गृहं, तत्र ‘वासः’ सर्वदाऽवस्थानं। ये कश्चित्सुखशीलतयोद्यतविहार कर्तुमशक्नुवन्तो यतीनां चैत्य एव सदाऽवस्थानं युक्तमिति प्रतिपेदिरे, ते प्राहुः—तस्मात् इदानीं जिनगृहवास एव साधूनां सङ्गतः प्रतिभाति, न च तत्राधाकर्मिकादयो दोषाः, तीर्थकरार्थं कृतत्वात्। चैत्यम्—इदानीन्तनमुनीनामुपभोगयोग्यं, आधाकर्मिकदोषरहित त्वात्, शुद्धाहारवदित्यादि। तदेव सम्यक्तया विमृश्यतां विदुषां किं चैत्यमात्र एवैदा

मीन्वनमुनिनां सङ्गतिमङ्गति २। तथा वसत्यक्षमेति, वसतौ—परगृहे निवासं प्रति अक्षमा—मात्सर्यं, आधाकर्म—स्त्रीसंसक्त्यादिदोषजालरहितजिनगृहवासलाभे आधाकर्मिक वसतिवासस्य अत्यन्तमनुचितत्वात्। को हि नाम पथ्याशनप्राप्तावपथ्यमभीयात्, तस्मात्परगृहवसतिरसमीचिनाऽधुनातनयतीनां। यच्चागमे परगृहवासः श्रूयते स तात्कालिकसात्त्विक यति अस्यपेक्षयेति ३। तथा 'स्वीकारः' स्वायत्तापादनं, कस्य? इत्याह—'अर्थो' द्रविणं 'गृहस्थः' श्राद्धः 'चैत्यसदन' जिनगृह ततोऽर्थश्चेत्यादि द्वन्द्वः, तस्य। तत्र द्रव्यस्वीकारस्यागमे निषिद्धत्वेऽपि साम्प्रतयतीनां तत्स्वीकारो युक्तः, स विना ग्लान-परचक्र दुर्भिक्षाद्यवस्थायां भैषजपथ्याद्यनुपपत्तेः। प्रायेण गृहमेधिनां कालदोषात्निर्धनत्वेन निर्दयत्वेन च यतिचिन्ताद्यविधानात्, तेनार्थस्वीकारः साम्प्रतिकमुनीनां सङ्गत इवाभातीति ४। तथा श्रावकस्वीकारोऽपि अद्यतनमुनीनामुत्सर्गापवादपदविदुरार्णां न निर्युक्तिकः। पूर्वं हि कालस्य सौख्यादतिभयवस्तुत्यधाहुल्याज्जैनमतबाह्या अपि जनाः श्वेताम्बरभिक्षुभ्यः सबहुमान भिक्षादिक चितेरुः, साम्प्रतं तु जैनमार्गवैमुख्येन तेषां तथाविध श्वेताम्बरविरसापा अभावात, अतः श्राद्धस्वीकारं बिना भिक्षाऽवाप्तेरप्यनुपपत्तेर्युक्तः सम्प्रति श्राद्धस्वीकारः ५॥ तथा चैत्यस्वीकारोऽपि मुनीनां समीचीनः, सम्प्रति गृहस्थानां चैत्यचिन्तां प्रति निरवधानतया यतिस्वीकारमन्तरेण कालेन तद्भ्रंश सम्भवात् मार्गलोपप्रसङ्गेन चागमे त्वर्थापत्त्या तत्स्वीकारस्याभिधानात् ६। तथा न विद्यते 'प्रेक्षित' चक्षुपानिरीक्षण, आदिशब्दात्प्रमार्जनं रजोहरणादिना यत्र तदासन विष्टर स्यूतगल्लिकादौ शुषिरगम्भीरसिंहासनादौ च प्रत्युपेक्षणादि यतीनां न युज्यति, तेन च तत्र न कल्पते उपवेष्टुं। चैत्यवासिनस्त्वेवं प्रतिपद्यन्ते—प्रवचनप्रभावनाहेतोस्तादृशासनोपवेशनस्यापि साधितत्वात्, प्रवचनप्रभावनायाः प्रधानदर्शनाङ्गत्वेन यथाकथञ्चन विधेयत्वात्। ततः सिद्धमिदं—आचार्याणां गल्लिकाद्यासनमुपादेयं, प्रवचनप्रभावनाङ्गत्वात्, सम्यक्त्वादिप्रमाणशास्त्राध्ययनवत् ७। तथा 'सावद्यं' सपापं 'आचरितं' आचरणा, तत्र 'आदरः' आग्रहः। आचरणा हि निरवद्यैव प्रमाणं, एषा तु सावद्या, गृ[हि]ह (?) दिग्ध-बाधाचरणाद्यभ्युपगमे यतेस्त्रिविधत्रिविधेनानिसिद्धपापारम्भानुमत्यापत्तेः, तथा ह्येषा चैत्यवासिभिरादृता, यतस्तेषामयमाशयः—प्रायेण सम्प्रतितन—यतीनां गृहस्थान्योऽन्याकाङ्क्षया कलहेनाव्यवस्थया सर्वमसमञ्जसमापद्यते, तस्मादेषाऽप्याचरणाऽद्यतन कालापेक्षया युक्तिमतीति ८। तथा 'श्रुतस्य' सिद्धान्तस्य 'प-या' मार्गस्त्वनादरः। ते ह्येवमाहुः—भगवत्सिद्धान्तो हि नैकान्तनिष्ठो, विहितानामपि केषाञ्चिदनुष्ठानानां कथञ्चिन्निषेधात् निषिद्धानामपि कथञ्चिद्विधानात्, अतो न आस्थां कृत्वा सकलया सिद्धान्तव्यवस्थया किमपि कर्तुं परिहर्तुं वा पार्यते, तेनागमबहिष्टाऽपि काचित्सुकुमार

क्रिया भयतनसाधुप्रवर्तिता विवेकिनां निःश्रेयसाय भविष्यति, किं बहुनेति ९। तथा 'गुणिषु' ज्ञानादिमत्सु यतिषु 'द्वेषधीः' मात्सर्यबुद्धिः, स्वयं निर्गुणानां तद्गुणानसहिष्णूनां तदुपजिघांसया दुष्टा मतिरिति एते च परगृहवासिनो धार्मिकमन्या आत्मानमेवैक गुणैरुत्कर्षयन्तो निखिलानप्यपरान् दूषयन्त ऐदंयुगीन सङ्घमप्यवमन्यमाना आत्मसम्प्रवृत्तिं दूरेण परिहरन्तो लोकव्यवहारमप्यजानानाः सङ्घबाह्या एव, अतस्सर्वथैवैते उच्छेत्तव्याः, द्वेष एवैषु श्रेयान् १०।

"गौतमादिषु वर्तित्वा–स्वाश्लेषु यतिष्वमी। कथमेतेषु वर्तेत ?, निर्गुणेष्वसत्स्वेति चेत् ? ॥१॥"
"कल्पयोनिरहां यद्वद्, गुणायोगेऽपि वन्द्यते। भिक्षादिषु तथाप्यामो,बिना विप्रतिपत्तितः ॥२॥"
"यथा च भास्वरत्नानां, गुणाभावेऽपि तादृशाम्। काले साम्प्रतं चारचिन्त्ये, मणिशब्दः प्रयुज्यते"
"गौतमादिगुणायोगे–ऽपीदानींतनसाधुषु। व्यवहारस्तु सद्भावेन, श्रमणस्येति यतिष्वपि ॥४॥"

इति यास्तव क्षान्त्यादिदशविधयतिधर्मस्पर्द्धयैव यथाछन्दैः प्रदर्शितो धर्मोऽयं चेत्कर्महरो भवेदित्यादि पूर्वव्याख्यातमिति वृत्तार्थः ॥ ५ ॥

इदानीमेतानि दशद्वाराणि यथाक्रमं कथयन् प्रथमं तावज्जीवोपमर्दायनेकदोषप्रकटनपूर्वमौद्देशिकभोजनद्वारं प्रत्याख्यातुमाह—

षट्कायानुपमृद्य निर्दयमृषीनाधाय यत्साधितं ॥ ६ ॥

व्याख्या—कः 'सघृणो' दयालुर्विदन्–सङ्घादिनिमित्तमेतदभिप्यन्नमिति जानन् इहेति प्रवचने 'विषवस्तु' भोक्तुमिच्छति ?। "अदः सनन्तस्य षत्वादेशे रूपं"। किं तत् ? 'सङ्घः' साधुसाध्वीरूपः श्रमणगणः आदिशब्दादेककतिपयादिश्रमणपरिग्रहः, तस्य भक्त– वत्कृते निष्पन्नमशनादि, नामेति कुत्सायां, अतीव कुत्सितमेतद्भक्तं यतीनां, जानतो मुनेः कृपालोरेव विषं भक्तं भोक्तुं न कल्पत इत्यर्थः। कथं तत्कुत्सितं ? अत आह– यत्साधितं, तच्छब्दस्य यच्छब्देन नित्याभिसम्बन्धात्, ततश्च यद्भक्तं 'साधितं' निष्पादितं, गृहस्थेनेति शेषः। किं कृत्वा ? 'आधाय' उद्दिश्य, कान् ? 'ऋषीन्' यतीन्, यतिभ्यो मयैतद्देयमिति चित्ते कृत्वेत्यर्थः। अथ निरवद्यवृत्त्या यतिनिमित्तं कृतेऽप्यस्मिन् को दोषः ? इत्याह–'उपमृद्य' विनाश्य 'षट्कायान्' पृथिव्यप्तेजो वायु–वनस्पति–त्रसाख्यान् षड्विधजीवनिकायान्। कथमुपमृद्य ? इत्याह–निर्दयमिति क्रियाविशेषण। ननु भवत्वेतदयथार्थं साधितं कुत्सितं, तथापि सिद्धान्तानिषेधाच्च

दृश्यतीत्याह–' शास्त्रेषु ' ग्रन्थेषु निशीथादिषु ' प्रतिषिध्यते ' यतिभोज्यतया निवार्यते यदुक्तं, कथं ? असकृत्–अत्यन्तदुष्टतास्थापनाय मुहुर्मुहुः, तथा च आहारोपधि–वसत्या धाकर्मविचारावसरे निशीथेऽभिहितं—

" एय सामन्नयरं, आहाकम्म तु गिण्हए [भुंजइ] जोउ ।
सो आणा अणवत्थ, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥१॥" तथा पिण्डनिर्युक्तावपि—

"आहाकम्मं भुंजइ न पडिक्कमए य तस्स ठाणस्स। एमेव अडइ बोडो,लुक्कविलुक्को जह कवोडो ॥ २ "

दशवैकालिकनिर्युक्तावपि—

" परिहरइ भुंजइ उज्झसपमरणे परं कुणइ । पयकर्म च अकाए,जो पीअइ कहन्नु सो साहू ?॥३॥"

नन्वस्तु एवमागमनिषेधः तथापि तस्य मुनिना स्वयमकृताकारितानुमतत्वाच्च तद् ददानस्य तस्य मुने: को दोषः ? इत्याह–'निस्सिंकतो' निश्शङ्कतां–निर्दयत्व 'आयरे' करोति यत्तदाधायि–निश्शूकताकारकं यदुक्तं । अयं भावः–स्वयमकृतमप्याधाकर्म जानन् गृह्णानो मुनिर्भक्तिमत् गृहिणः प्रसङ्गतस्सजनात् अत्यन्तमृजुनिश्शूकत्वेन सचित्तमपि न जह्यात्, अतः कथं न दोषः ?, तदुक्तं—

"सव्व तइवि मुणतो, गिण्हतो वड्ढए पसंगं से । निद्धंधसो य गिद्धो न मुयइ सचित्तं पि सो पच्छा॥१

अत एव अत्यन्तम् एतत् निराकरिषया गणधरा आनुरूप्येण–उपमानानि दर्शयामासुः । तथा चाह–गोमांसादीति, गौः–सुरभेर्मांसं, आदिशब्दात् वान्तोच्चारसुरा ग्रहः तैरुपमा सादृश्यं यस्य तत्तथा । यदुक्तमाहुः–सुधर्म गणधराः, यथाहि गोमांसभक्षणं लोकधर्मविरुद्धत्वेन महापापहेतुत्वादत्यन्तनिन्दितत्वाच्च विवेकिना सर्वथा हेयं, तथाऽऽधा कर्मभक्तमपि, एवं वान्तादिष्वपि यथायुक्तमर्थं योज्यं । अधपति प्रकारान्तरे, यदुक्तं भुक्त्वा मुनिर्याति–गच्छति 'अधो'ऽधस्तात्, संयमादिति ज्ञेयं, अथवा अधोगति–नरकं । अत्र च वृत्ते एक वाक्यस्थेनैव यच्छब्देन सकलवाक्यार्थे दीपिते यत्प्रतिपदं यच्छब्दो पादानं तस्मदादिभक्तस्यात्यन्तपरिहरणीयता स्थापनार्थं । यस्मादाचार्यैः–इदानीन्तन कालापेक्षया यतीनामाधाकर्मभोजनमपीष्यते तदनुमानाभ्यां निषिध्यते, तथाहि–यतीना माधाकर्मभोजनमनुपादेयं, षड्जीवनिकायोपमर्दं निष्पन्नत्वात्, तथाविध वसत्यादिवत् । तथा यतीनामाधाकर्मभोजनमभोज्यं, धर्मलोकविरुद्धत्वात्, गोमांसादिवदिति । एवं चोपपन्नमेतत्–सद्धादिभक्तं यतीनां न भोक्तव्यमिति वृत्तार्थः ॥ ६ ॥

इदानीं देवद्रव्योपभोगदूषणप्रदर्शनद्वारेण जिनगृहवासनिराकरणायाह—

गायद्गन्धर्वनृत्यत्पणरमणिरणद्वेणुगुञ्जन्मृदङ्ग ।

व्याख्या—वस्तुनिश्चये, जिनगृहे 'अर्हन्मतज्ञा' भगवदागमनिपुणा यतयो नैव वसन्ति, यदागमे तत्र निवासस्यात्यन्तं निवारणात्, मन्तो-विवेकिनः । कुतः ? इत्यत आह—'सती' शोभनाऽकृत्रिमा भक्तिः तस्या 'योग्यं' उचितं, तस्मिन्, भक्तिरेव यतस्तत्र कर्तुं युज्यते । भक्तियोग्यतामेव विशेषतो विशेषणद्वारेण दर्शयति—गायदि त्यादि, गायन्तो-भगवद् गुणानत्युत्कीर्तयन्तो 'गन्धर्वाः' प्रधानगायना यत्र तत्तथा, नृत्यन्ती-नाट्यशास्त्रोक्तक्रमेण करचरणादि-अङ्गविक्षेपं कुर्वती 'पणरमणी' वारस्त्री नृत्यकी यत्र तत्तथा, रणन्तो-मुखमरुतामिघातान्मधुरं ध्वनन्तो 'वेणवो' वंशा यत्र तत्तथा, गुञ्जन्तो-मार्दङ्गिकैः पाणिभ्यां ताडनाद् गम्भीरं स्वनन्तो 'मृदङ्गा' मर्द[मुर]जा यत्र तत्तथा, प्रेङ्खन्त्यो-कम्पमानत्वात् मन्दपवनेन कम्पमाना देवसेवार्थं विरचिताः 'पुष्प स्रजः' पुष्पमाला यत्र तत्तथा, उद्यत्-भगवत्प्रतिमा विलेपनार्थं विमर्दनसमुच्छलद्रूप द्वारेण प्रसरन्मृगमदः-कस्तूरिका यत्र तत्तथा, लसन्तः-पद्मरागकमयत्वान्मुक्ताफलादि विच्छित्ति युक्तत्वाच्च दीप्यमाना उल्लोचा-चन्द्रोदया यत्र तत्तथा, चलन्तो-महाघन पत्राङ्कारालङ्कृतशरीरत्वात् भ्राजिष्णवो 'जनौघाः' श्रावकसङ्घा यत्र तत्तथा, ततश्च गायद्गन्धर्वे च तद्नृत्यत्पणरमणि चेत्यादि कर्मधारयस्तस्मिन् । एतानि हि भगवद्गुण गानादीनि प्रकाराणि जिनगृहे भक्तिहेतुकानि, भव्यानां शुभभावोल्लासहेतुत्वात् महात्मभिः क्रियन्ते, अथैवंविधे भक्तियोग्यजिनगृहे किमिति साधवो न निवसन्ति ? अत आह—'नमन्तो' बिभ्यन्तः, कुतो ? देवद्रव्यस्य 'उपभोगः' सततं तत्र शयनासनभोजनादि करणेन उपयोगः तथा 'ध्रुवा' शाश्वती-यावज्जीवं अथवा 'ध्रुवं' निश्चितं 'मठो' जिनगृहजगतीसम्बद्धो यतिनिमित्तनिष्पन्न उपाश्रयस्तस्य 'पतिता' स्वामित्वस्य-जिन गृहलग्नकोष्ठागारादिभिश्च कर्मान्तरादि सकलचिन्ताकारित्वेनाधिकारित्वमिति यावत् । तथा भगवत्प्रतिमा-अग्रपादपर्षो भोजन-शयनासन-निष्ठीवनाद्यविधिकरणेन महत्याशातना भवति, ततश्च देवद्रव्योपभोगेत्यादि द्वन्द्वः । तेभ्यः । अथ गृहिणा भगवन्निमित्त स्व द्रविणेन निर्मापिते देवगृहे वसतो देवद्रव्यं कनकादिकमनुपभुञ्जमानस्य यतेः कथं देव द्रव्योपभोगः ?, जिनद्रव्यनिष्पन्ने हि तत्र निवसतस्तद्द्रव्यं साक्षाद्भुञ्जानस्य गृण्हतो वा भ स्यादिति चेन्न, गृहिणा स्वद्रव्यनिर्मापितस्याऽपि तस्मिन् देवाय कृतत्वेन देवद्रव्यत्वात्, तथा च तत्र वसतः साक्षाद्यदनमनुपभुञ्जानस्यापि मुनेर्देवद्रव्योपभोगोपपत्तेः, साक्षादेव द्रव्यनिष्पन्ने तु का वार्ता ? इति यतिभिर्जिनगृहे न वासः कार्य इति वृत्तार्थः ॥ ७ ॥

इदानीं जिनाद्यासेवितत्वेन सिद्धान्तोक्तत्वेन च यतीनां परगृहवसतिं व्यवस्थापयन् वसत्यष्टमा द्वारं काव्यद्वयेन निरसिसिषुराह—

साक्षाज्जिनैर्गणधरैश्च निसेवितोक्तां ॥ ८ ॥

निर्ग्रन्थोत्सर्गोपवादे पदमिह शिवपुरीदूतभूते निशीथे ॥ ९ ॥

व्याख्या—कः सकर्णः पुमान् 'परगृहे' गृहस्थगृहे 'वसतिं' निवासं 'विद्वेष्टि' मात्सर्यात् न क्षमते-निषेधयति ? मुनिपुङ्गवानां-सुविहितयतीनां, न कश्चिदित्यर्थः। अयमर्थः-अकर्णो हि कर्णौ विना सिद्धान्तोक्तामपि परगृहवसतिमनाकर्णयन् द्विष्यादपि, यः पुनः 'सकर्णः' सश्रवणः अथ च सहृदयः-परगृहवासचैत्यवासयोर्गुणदोषविचारचतुर इति, स परगृहवसतिं यतीनामनुमोदयत्येव, न तु द्वेष्टि। किंरूपां वसतिं ? 'निषेविता' च सोक्ता चेति कर्मधारयः। कथं ? 'साक्षात्' प्रत्यक्ष-स्वयमित्यर्थः। कैः ? जिनैः-तीर्थकृद्भिर्गणधरैः-गौतमस्वामिप्रभृतिभिः। चः समुच्चये। जिनादिभिरुक्ता, तां। तथा सज्यते सज्यते अनेनाऽस्मिन्निति सङ्गः—गृह धन-कनक तनय वनिता स्वजन-परिजनादिपरिग्रहः, निर्गताः सङ्गात् निःसङ्गास्तेषां भावस्तत्ता, तस्या 'अग्रिमं' मुख्यं 'पदं' स्थानं मुनीनां परगृहवसतिः, अथवा निस्सङ्गतायाः 'अग्रिमं' मौलं 'पदं' लक्ष्म-लिङ्गमित्यर्थः "पदं व्यवसितत्राण-स्थानलक्ष्माङ्घ्रि वस्तुषु" इत्यनेकार्थवचनात्। निस्सङ्गता हि मुनित्व लक्षणं, बहिरिव दाराद्याक्रान्तिसाम्राज्यस्य, तस्याश्च लिङ्गं परगृहवसतिः, नहि स्वाधीने विभवे विद्वान् कश्चित्परगृहाश्रीतेति। अत्र च पदशब्दस्याभि[लि]ङ्गलिङ्गत्वाच्च विशेष्यलिङ्गता किं कुर्वन् विद्वेष्टि ? इत्यत आह-'आनन्' आगमवचनेनानवबुध्यमानः। कां ? शय्यातर इत्युक्ति-भाषा, ताम्। सिद्धान्ते हि शय्यातर इति भाषा श्रूयते, न चासौ भाषूनां परगृहवास विनोपपद्यते, तथाहि-'शय्यया' वसत्या यतिभ्यो दानं, तया तरति संसारसमुद्रमिति शय्यातरशब्दार्थः, परगृहवसतिं विना यतीनां न कश्चि त्साधुशय्यादानं पतेत, न च तत्समस्तीति शय्यातरशब्दस्य स्वार्थालाभे निर्विषयत्वा पत्त्या सिद्धान्त प्रतिस्थानमुच्चारणं कथमिव शोभां बिभृयात् ?, तस्मादागमे शय्यातर शब्दश्रुतेरपि परगृहवसतिर्मुनीनां ज्ञायते। तथा अनगारपदं च, आनमिति सम्बध्यते। चः समुच्चये। न विद्यते 'अगारं' गृहं यस्यासौ अनगारः, तस्य अनगार इति पद व्यपदेशः, श्रुतं ह्यनगारपदं यतिवाचकं प्रतिपदं श्रूयते तच्च तेषां स्वागाराभावेन परा गारवासेन च सङ्गच्छते। अन्यथा स्वागारसद्भावे चैत्यवासे वा यथाक्रमं यतेर्गृहपति-मठपति-व्यपदेशप्रसङ्गात्-नगारपदस्यैव पर्यायमापद्येतेति। ननु यदि हि समागमे चैत्य

वासोऽन्तमिमतः स्याद्यदा परगृहवसतिः लभ्येतापि, यदा तु तत्र कश्चिदेत्यवासे कथितेऽपि हठेनैव भवद्भिः परगृहवसतिरास्थीयते, तदा कथं लभ्यते ? इत्याह– चित्रोत्सर्गेत्यादि, यदस्मात् इहप्रवचने 'निशिथे' प्रकल्पाध्ययने पञ्चमोद्देशकादौ विरूभूते ? सामान्यविधिरुत्सर्गः विशेषविधिरपवादः । उत्सर्गश्चापवादश्चेति द्वन्द्वः । ततश्च 'चित्रौ' नानाविधौ वसत्यादिगोचरावुत्सर्गापवादौ–सामान्यविशेषविधी यत्र स तथा, तत्र तथा 'शिवपूर्यां' मोक्षनगर्यां 'सूत्रसूता' सन्देशहरसदृक्षस्तत्र, सूत्रशब्दस्यात्र सदृक्ष–वाचित्वात्, 'प्राक्' प्रथम 'उक्ता' प्रतिपाद्य 'भूरिभेदाः' प्रभूतप्रकारा 'गृहिगृह वसतीः' गृहस्थसदनरूपोपाश्रयान् पश्चात्–चरम कारणे तथाविधवसत्यलाभलक्षणे इती 'अपोद्य' अपवादविषयीकृत्य, वा यथेति गम्यते । अयमर्थः–निशीथ पूर्वमौत्सर्गिका वसतिभेदा यतिवासयोग्यत्वेन कथिताः, ।

यथा—

" मूलुत्तरगुणविसुद्धं, थी–पसु–पंडग विवज्जियं वसहिं ।
सेविज्ज सव्वकालं, विवज्जए हुंति दोसाओ ॥ १ ॥

" विच्छिन्ना सुहठिया, पमाणजुत्ता य तिविह वसहीओ ।
पढमबीयासु ठाणे, तइय य दोसा इमे हुंति ॥ २ ॥

तथा साध्वीरुद्दिश्योक्तं—

"गुत्तागुत्तदारा कुलपुत्ते सत्ति–मंत–गंभीरे । भीयपरिस्समद्दविए, अज्जा सिज्जायरे भणिए ॥१॥

" पच्चइहासकवाडा, सागारियमगिणिमाइ पेरंता ।
निप्पच्चायभोगा, विच्छिन्नपुरोहडा (पश्चाद्गृहकाः) वसही ॥ २ ॥

तदलाभे यथायथा एतापवादोदिताः । यथा–द्रव्यप्रतिबद्धायामपि वसतौ कारणे न वस्तव्य, यथा चाह—

" अद्धाणनिग्गयाई, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए ।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो दव्वपडिबद्धे ॥ १ "

' सद्दे आभरणविही, वत्थालंकारभोयणे गंधे ।
आउज्ज–नट्ट–नाडय, गीए सयणे य दव्वम्मि ॥ २ ॥ "

" अद्धाणनिग्गयाई, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए ।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो आयपडिबद्धे ॥ ३ ॥ "

" जइ कारणे पुरिसेसुं तह कारणे इत्थियासु विवसंति ।
अद्धाणवाससावय–तेणेसु य कारणे वसइ ॥ ४ ॥

तत्र अपोद्य किं कृतमित्यत आह–न्ययमि, संयतानां निवास इति सम्बन्धः । 'संयतानां' सुविहितानां निवासो–ऽवस्थानं न्ययमि क ? ' अगारिधाम्नि ' गृहस्थगृहे । कीदृशे ? स्त्रीणां ' संसक्तिः ' संसर्गो–रूपाद्यापातप्रत्यासत्तिः । आदिग्रहणात्पण्ड कादिग्रहः । ' तद् युक्तेऽपि ' तत्सहितेऽपि, आस्तां तद्रहित इत्यपि शब्दार्थः । ननु " समणस्स अगुत्ती " इत्यादि वचनात्स्त्रीसंसक्तिमति—

" पडुपंडगेसु वि इह, मोहानलदीवियाण य होइ ।
पायमगुत्ता पविती, पुव्वमयकमासन्नो तह य ॥ १ ॥ "

इत्यादि वचनात्पण्डकसंसक्तिमति च परसद्मनि वसतां संयतानां ब्रह्मचर्य विराधनादिदोष सम्भवात् कथं तत्र वासो नियमितः ? तत्राह–अभिहिता निशीथे प्रतिपादिता यतना स्त्रीसंसक्त्यादि सम्भवत्कन्दर्पविकारा असत् प्रवृत्तिनिवृत्तिपटीयसी तिरस्करणी कटाद्यन्तर्धानरूपा चेष्टा, यदाह—

" जीय पमूयतरा, चम्मचिरि चिलिमिलिचिक्कणा वत्थं ।
सिज्जाइ चिराइ अत्तो, सा जयणाव्वाए विहयम्मि ॥ १ ॥ "

' आणाए विहयमि ' त्ति आज्ञया–आप्तोपदेशनीत्या 'विपदि' द्रव्य क्षेत्र काल भावा दीरपदः । ' तत्कारिणां ' तद्युयतानां, यथाह—

" भावम्मि ठायमाणा, पढमं ठायंति रूवपडिबद्धे ।
तहिय कडगचिलिमिली, तस्सा सइठंति पासवणे ॥ १ ॥ "

" पासवणे मत्तएसु, गणे असत्थ चिलिमिलीरूवे ।
सज्झाए झाणे वा, आवरणे सद्दकरणे य ॥ २ ॥ "

" तहि अप्पयरा दोसा, आभरणाईण दूर उमिया ।
चिलिमिलीमिधि आवरणं, गीए सज्झाय झाणाई ॥ ३ ॥ "

" अद्धाणमिमाणाई, तिक्खुत्तो भग्गिऊण असईए ।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो इत्थ सागरिए ॥ ८ ॥ "

" अद्धाणनिग्गयाई, वासे सावयमए व तेणभए ।
आवलिया तिविहे वी, वसंति जयणाइ गीयत्था ॥ ९ ॥ "

इय यतना स्त्रीसंसक्तवसतिमधिकृत्योक्ता । पशुपण्डकसंसक्तायामपि वसतौ वसताम् एतदनुसारेण सम्भविनी यतना द्रष्टव्या, तदयमर्थः—स्त्रीसंसक्त्यादि सम्भवेऽप्येव विध यतना सावधानानां मुनीनां तज्जन्या दोषाः प्रादुष्यन्ति सर्वत्रेति, सर्वस्मिन् अपि वसत्यधिकारप्रद्योतेऽधिकारो । नन्वेवं यतनावतां चैत्यवासेऽपि को दोष ? इत्यत आह न तु, 'तु' पुनरर्थेऽवधारणे वा, तेन न पुनर्नैव वा 'मत' इष्टः क्वापि उद्देशकादौ चैत्यजिन गृहे निवासो निवास इत्युभयत्र योज्यते, एतदुक्तं भवति—यदि हि चैत्यवासो यतीनां कश्चिन्मतः स्यात् तदा स्त्रीसंसक्त्यादि युक्त इव गृहे वसतां, तत्रापि काञ्चित् यतनां ब्रूयात् न चैव, ततोऽवसीयते—अगारिणामन्येव संयतां—यतीनां वासो, न चैत्य इति । तस्मात् न सद्धर्मेण तद् द्वेषो विधेय इति काव्यद्वयार्थः ॥ ९ ॥

साम्प्रतमर्थाधिकार—गोचरस्वीकार—द्वारत्रयमेकवृत्तेनाह—
प्रव्रज्याप्रतिपन्थिनं न तु धनस्वीकारमाहुर्जिनाः, ॥ १० ॥

व्याख्या—नविरत्यक्षमायां, न सम्मतं एतत्, यदुत—साधूनां धनस्वीकार इति, यतो 'धनस्वीकारं' द्रव्यसङ्ग्रहं 'आहुः' ब्रुवन्ति जिनाः, अत्र जिनानाम् इदानी मतीतत्वेनोपदेशासम्भवात् 'आहुः' इत्यत्रातीतविभक्तिमाश्रावपि यद्वर्तमानकथनं तदेषां स्वागमैः ग्रन्थसङ्ग्रहविपाकप्रतिपादकैः एकरूपतयाऽद्य यावदनुवृत्तिमिग्मेवाध्यवसायेन वर्तमानतयाऽवभासात् तदुपदेशदानप्रदर्शनेन शिष्याणां धनस्वीकारं प्रत्यतिविहीर्षा यथा स्यादिति ज्ञापनार्थं एवं उत्तरपदेऽपि योज्यम् । कीदृशं ? 'प्रव्रज्यायाः' सर्वसङ्ग-त्यागरूपाया दीक्षायाः 'प्रतिपन्थिनं' विरोधिनं, विरोधश्चात्र वध्यघातकलक्षणः तथाहि—द्रव्यसङ्ग्रहो मूर्च्छापरिणामः प्रव्रज्या च तद्विरतिपरिणामः तयो चात्र बलवता मूर्च्छापरि णामेन तद्विरतिपरिणामो बाध्यत इति तथा 'सर्वारम्भिणां' सकलसावद्यारम्भप्रवृत्तानां गृहिणां परिग्रहो मूर्च्छाहेतुः मामकत्वबुद्धिः स तथा, तं । तुशब्दोऽर्थस्वीकारात् अस्य भेदप्रदर्शनार्थः । अतिशयेन 'महासावद्य' महापापं 'आचक्षते' वदन्ति, जिना इति पूर्वस्मात् अनुकृष्यते । अत्र चाहुरिति क्रियाऽनुवृत्त्यैव भावपक्षिद्धावाचक्षत इति पुनरभिधान

द्वारान्तर-निराकरणमेतदिति ज्ञापनार्थम् । अयमर्थः—गृहिपरिग्रहे हि तत्कृतकारितादि सकलमहारम्भ-महापरिग्रह-जनितपापानुमत्यादिना यतीनामपि तत्कृतादिनिखिलपाप प्रसङ्गोऽत्र कथं तस्य नातिमहासावद्यता ?, परकृतमहापापस्यात्मन्यध्यारोपणमेव चातिदुष्कार्यः । तदुक्तं—"आरम्भनिर्भरं गृहस्थपरिग्रहेण, तत्पातकं सकलमात्मनि सन्दधानाः । तस्मात् पतन्त्य-हहा ! तस्करमोषदोषं, मात्म्यनिग्रहमय सितभिक्षुपाशाः ॥ १ ॥" इति । अतएव गृहिपरिग्रहो यतीनां प्रायश्चित्तापत्त्या श्रुते निवारितः, यदुक्तं "ओसन्न-गिहिसु लहुगो" इत्यादि । एतेन गृहिस्वीकारं प्रति परपरस्य पूर्वं हि कालस्य सौस्थ्यादिना मुख्यमभिधानं तदपि निरस्तम् । कालदोषात् कुतीर्थिकादि-भूयस्त्वेऽपि गृहिस्वीकारमन्तरेणापि मण्डकादि भोज्येभ्यो यतीनामधुनाऽपि भिक्षादिप्राप्त्युपपत्तेः, अतः केवलं औदरिकत्वापत्त्याऽतीवोपहासपदं विदुषां तदर्थस्तत्स्वीकार इति । योऽपि "जा जस्स ठिई जा जस्स संचिइ पुव्वपुरिस कय मेरो सो तं अइ कमतो अनंत संसारी उ होइ ।" इत्यागमोपन्यासः सोऽपि न भवदभिमतप्रसाधकः, अन्यार्थत्वात्, न हि गृहि परिग्रहसाधकोऽयं प्रक्रमः, किन्तु गणधरादीनां शिष्य-प्रतिशिष्यपरिग्रहविषयः, तथाहि—या काचित् यस्य गणधरशिष्यप्रतिशिष्यादेः स्थितिः—प्रतिक्रमणवन्दनादौ न्यूना धिक-क्षमाश्रमणदानादि-लक्षणा सामाचारी, या वा यस्य सन्ततिर्गुरुपारम्पर्येणालोच नादि दानविषयः सम्प्रदायः, या च पूर्वपुरुषकृता गणधरादिप्रवर्तिता 'मेरा' मर्यादा-गच्छव्यवस्था, तामतिक्रामन् अनन्तसंसारिको भवतीति, अत्र हि गणधरशिष्यादीनां स्वस्वगुरुप्रदर्शित-स्थित्याद्यतिक्रमेऽनन्तसंसारितापत्त्या प्रतिनियतगणधरपरिग्रहविषयत्व मवसीयते, श्रावकाणां तु सर्वधार्मिकगच्छेष्वविशेषेण भक्तपानादि भक्त्यभिधानात् । धर्मगुरुषु तद्गच्छे वा विशेषेण दानभक्तिप्रतिपादनं तेषां कृत्यप्रतीकारतया, न तु तत् स्वीकारविषयतयेति । एवं गृहिपरिग्रहः सर्वथा यतीनां नोचित इति ५ । तथा 'चैत्यस्य' जिनगृहस्य 'स्वीकरणं' स्वायत्ततापादनं, तत्र । तुरत्रापि प्रथमद्वारादस्य भेदमाह—' गर्हिततमं ' अत्यर्थं सकलचैत्यकृत्यचिन्ता तद्द्रव्योपभोगादिना लोकेऽप्यति निन्दितं ' माठपत्य ' मठनायकत्वं ' स्यात् ' भवेत् ' यतेः ' मुनेः । एतदुक्तं भवति—चैत्यस्वीकारे हि यतीनां तच्चिन्तनं सकलमनुष्ठेयं, तच्च आरम्भदोषवत्तया द्रव्यस्तवत्वेन यतीनां निवारणात्, एवं च स्वमेव परिभाषय मार्गानुसारित् या मुक्त्वा यथाच्छन्दतया चिकार्यं चिन्तयतः कथं माठपत्यमतिहसितं न प्रसज्यते ? इति । लौकिका अप्याहुः—तथा—" यदीच्छेन्नरकं गन्तुं, सपुत्रपशुबान्धवः । देवेष्वधिकृतिं कुर्यात्-गोषु च ब्राह्मणेषु च ॥ १ ॥ तथा " नरकाय मतिस्ते चेत्, पौरोहित्यं समाचर । वर्षं यावत्किमन्येन, माठपत्यं दिनत्रयम् ॥ १ ॥ ६ ॥

इदानीं निगमयति–यस्मात् अर्थे यस्मात् एव–मित्युक्तक्रमेण 'भववैरिणी' चारित्र–प्रतिपन्थिनी, इति हेत्वर्थे भिन्नक्रमः स चाग्रे योक्ष्यते, ममता–अर्थादिषु स्वीकारबुद्धिः, इति यस्माद्धेतोर्न युक्ता–नोपपन्ना–'मुक्स्यर्थिनां' निर्वाणाभिलाषिणां मुनीनामिति वृत्तार्थः ॥ १–१० ॥ ६ ॥

साम्प्रतम् असंयमादि–दोषप्रदर्शननाप्रेक्षितायासन–द्वारं निराकर्तुमाह—

भवति नियतमत्रासंयमः स्याद्विभूषा ॥ ११ ॥

व्या०—'भवति' जायते 'नियतं' सर्वदा 'अत्र' गन्दिकाद्यासनेऽसंयमो जीवरक्षाऽभावः, गन्दिकादेर्निस्यस्यूतत्वादिना प्रत्युपेक्षणादि अभावे विवरादिना तदन्तः प्रविष्टानां तदन्तर चोत्पन्नानां वा त्रसादीनां तत्रोपवेशनेन विनाशसम्भवात्। भिक्षोरिति वृत्तमध्यस्य पद सर्वत्र सम्बध्यते। 'स्यात्' भवेत् 'विभूषा' शोभा, तत्रोपविष्टस्य जगतोऽप्युपरिवर्त्त्यहमिति विभूषा कार्यमिमानप्रवृत्तेः, विभूषा च यतीनामवश्यं वर्जनीया, यदुक्तं—"विभूसावत्तियं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कणं। संसारसायरे घोरे, जेण पडइ दुरुत्तरे ॥ १ ॥" इति। 'नृपतेः' राज्ञः 'ककुदं' चिह्नं, राजादीनामेव प्रायेण महर्द्धिकानां तत्रोपवेशन–दर्शनात्। 'लोकहासो' जनतोपहासनं, चशब्दो दोषसमुच्चये। 'भिक्षोः–यतेः' अहो !! भिक्षोपजीविनो मुण्डिता अपि एवंविधासनमुपविशन्तीत्यादि दुर्जनवचनश्रवणात् 'स्फुटतरो' लोकप्रकटः। इह गन्दिकादौ 'सङ्गः' परिग्रहो महाधनत्वेन मूर्च्छाहेतुत्वात् 'सातशीलत्वं' सुखलालसत्वं,' तदन्तरेण हंसरूतादिपूर्णेषु सुस्पर्शेषु तथाविधासनेषु यति मनुचिततया सिद्धान्तनिषिद्धेषूपवेशोऽसम्भवी, तथै–रतिक्षयेन, इति हेतौ। एभ्यो हेतुभ्यो 'न भवतु' नैव, स्वल्परम्भारम्भे मुमुक्षो–मोक्षार्थिनो यतेः 'सङ्गत्वं' युक्तियुक्तं गन्दिकाद्यासनं, उपभोगगतमिति शेषः। लोकप्रसिद्धो रूतादिभृत आसनविशेषो गन्दिका। आदिशब्दात्–मसूरसिंहासनादिपरिग्रहः। एतेन यदपि "नाणाहिओ वरतरं" इत्याद्यागमबलेन प्रवचनप्रभावनाङ्गतया यतीनां गन्दिकासिंहासनादि–आसनोपवेशनसमर्थनं तदपि सुखशीलताविलसितं। सर्वेषां यतीनां गन्दिकाद्यासनमनुपादेयं, असंयमहेतुत्वात्, आधाकर्मिकभोजनवदिति वृत्तार्थः ॥ ११–७ ॥

साम्प्रतं सनामोचार–सावद्यापरिताभिधान–पुरस्सर–तद्दोषप्रदर्शनेन श्रावक्य–परिवादारं निरस्यन्नाह—

गृही नियतगच्छभाग् जिनगृहेऽधिकारो यतेः ॥ १२ ॥ (पृथ्वी)

व्याख्या—'गतस्य' पूर्वं प्रस्थितस्य कस्यचित् 'अनु' पश्चात् 'गतं' गमनमन्यस्य यत्तद् गतानुगतं, तदेषामस्तीति गतानुगतिकाः। मत्वर्थे इक प्रत्ययस्तद्धितः। अयमर्थः—यथा गड्डरिका। कांचन दिशं प्रतीत्य काञ्चिदेकामविवेकां पुरो गच्छन्तीमवलोक्य तदनुमार्गेण पाश्चात्याः सर्वा अपि तामनुगच्छन्ति, न मार्गस्य सुगम-दुर्गमत्वादिकं मृगयन्ते, तथा जिनप्रवचने सुखलोलतया कञ्चिदेकं प्रमादमार्गे गच्छन्तं वीक्ष्य तच्छीलतयाऽन्येऽपि तद् न्यायान्यायतामविचारयन्तो ये तमनुगच्छन्ति ते संसारपथाभिनन्दित्वात् तथोच्यन्ते, तैर्गतानुगतिकैः—लोकप्रवाहपतितैः—पार्श्वस्थादिभिः 'अद' एतत्सकलजनप्रत्यक्षं गृहिनियतगच्छभजनादिकं सावद्याचरितम्, अस्य सावद्याचरितस्य अनेकविधत्वेऽपि समुदायरूपतयैकत्व विवक्षणात्। कथमिति शेषः "गर्भमकारवचनो निपातः" केन कुत्सित प्रकारेण 'असंस्तुतं' यतीनाम्—अकृत्यतया अपरिचितम् अपि अनुचितमिति यावत्। 'प्रस्तुतं' प्रारब्धमादृतमित्यर्थः। तदेव नाम ग्राहमाह—गृही श्रावको 'नियतं' गच्छान्तरपरिहारेण एकतरं 'गच्छं' आचार्यं प्रतिबद्ध यतिसमुदायं 'भजते' परिगृह्णाति स तथा, गृहिणां नियतगच्छभाक्त्वे हि यतीनामिदानीं सर्वं भक्तपानादि निराबाधं निर्वहतीति धिया तादृश गुरूपदेशेन गृही निमित्तनियतगच्छभाग् भवतीति क्रियापदं यथासम्भवमध्याहार्यं, गृहि नियतगच्छभाक्त्वञ्च यतीनां तद्गतसकलारम्भानुमत्यादिना पापसम्प्रसङ्गेना-संस्तुतं। तथा 'जिनगृहे' देवभवने 'ऽधिकारः' सकलतत्कृत्यचिन्तनं नियोगो 'यतेर्मुनेः', श्राद्धानामिदानीं तच्चिन्तानिरवधानता-व्याजेन अस्य चासंस्तुतत्वं चैत्यस्वीकारद्वार-निराकरणे प्रागेव दर्शितं। तथा 'प्रदेयं' वितरणीयं अशनादि अशनं-भोजनमोदनादि, आदि शब्दात् पानकादिग्रहः 'साधुषु' यतिषु। अत्र च सम्प्रदानेऽपि विषयविवक्षया सप्तमी। 'यथा-तथा' येन तेन प्रकारेण-अशुद्धमपीत्यर्थः। 'आरम्भिभिः' गृहस्थैरधुना केवलेन शुद्धेनाशनादिना निर्वाहाभावादिति, तथा अशुद्धाशनादि दानप्रवर्तनस्य चासंस्तुतत्वम् औद्देशिकभोजननिरसनावसरे प्रतिपादितं। तथा 'व्रतं' सर्वविरतिः, आदिशब्दाद्देशविरति सम्यक्त्वारोपण तदन्तिकगमनादिग्रहः, ततश्च 'व्रतादिविधेः' सर्वविरत्यादि-अभ्युपगमस्य 'वारणं' निषेधः 'सुविहितान्तिके' सुमुनिसमीपे अगारिणां—श्राद्धानां, एतत् देशनापरिणतान्तःकरणा न अस्मदर्थे पीठादिकमपी घटीष्यन्ति इति बुद्ध्या, एतस्य चासंस्तुतत्वं तेषां सुविहिताभ्यासे देशनाकर्णन-व्रतादिनिषेधेन दर्शयामास उत्सूत्रदेशना मसिलताऽलून-विवेकमस्तकतया, तद्धेतुकानिवारित-प्रसरदुर्गतिप्रपाता-पातनात्, अन्यदुर्गति पातनं च यतीनां पापादपि पापीयः। एवं च चिन्त्यमानमाधुनिकमुनीनां सावद्याचरितमागमविरुद्धतायाः कथं न आपटीति ! इति काव्यार्थः॥ १२॥ ८

इदानीं भुवपथा-मथा-ग्रार-निरासमुपक्रमते—

निर्वाहार्थिनमुज्झित गुणलवैरज्ञातशीलान्वय ॥ ११ ॥

व्याख्या—' निर्वाहार्थिनं ' कवलोदरभरणप्रयोजन, न तु संसारनिस्तार काङ्क्षिणं, उज्झितं-हीनं ' गुणलवैः ' क्षमादिलवैरपि, प्रव्रज्यायोग्यो हि पुरुषः क्षमादि गुणवान् भवति, तदुक्त—" पव्वजाए जोग्गा, आरियदेसम्मि जे समुप्पन्ना । जाइ कुलेहि विसिट्ठा, तह खीणप्पायकम्ममला ॥ १ ॥ एव पवइए चिय, अवगय संसारनिग्गु णसहावा । तत्तो य तव्विरत्ता, पयणु-कसायऽप्पहासा य ॥२॥" अय तु क्षमादि अंशेनापि त्यक्तः । तथा 'शीलं' स्वभावः सद्वृत्त च ' अन्वयम ' कुल, शीलं चान्वयश्चेति द्वन्द्वः, ततः अज्ञातौ-अविदितौ शीलान्वयौ यस्य स तथा, त । परीक्षित-शीलकुलस्य हि प्रव्रज्या दानं न्याय्यमितिं, अविदितस्वभावो हि कषायदुष्टादिना कश्चिदपराधे गुर्वादिना शिक्षितः तमपि जिघांसति, एवमज्ञातकुलोऽपि तस्कराद्दिः प्रव्रजितः तच्छीलत्वात् स-तैन्या दिक कदाचिदारचयन् गच्छमपि तुलायामारोपयति, तथा अविदितकुलो दीक्षितः कथमपि कर्मोदयात् दीक्षां जिहासुर्निरङ्कुशतया जहात्येव, कुलीनस्तु कदाचिदकार्यं चिकीर्षुरपि कौलिन्य-सततगुरुशिक्षा-निबिडनिगडनियमितो न करोत्येव । तथा ' मुण्डीकृत ' दीक्षितं ' गुरुणा ' आचार्येण । तादृशि-विनेयवर्गसमे पक्षे जातः स तथाऽकुलोद्भव इत्यर्थ । तथा येन तत् सजातीयविनय तुल्या गुणा निःशीलतादयो धर्मा यस्य स तथा । ततः कर्मधारयस्तेन कर्मधारयसमासकरणेन च गुरुशिष्ययो स्तुगुणास्यन्तसाम्यास्य व्यनक्ति, तादृशो हि तादृशमेव मुण्डयते "समानशीलव्यसनेषु सख्य"मिति वचनात् । 'स्वार्थाय' स्वप्रयोजनाय-स्वशरीरशुश्रूषादिहेतवे, नतु संसारदुःखेभ्यो मोचयितु, तमेव चिच ' पादर्चयन्ति ' मलयज-घु-मण-घनसारादिना वस्त्रादिना च सततं पूजयन्ति । ' अधिक ' मिति क्रियाविशेषणं-अतिरिक्तं ' इयेभ्यो ' जिनेभ्योऽपि ' जनाः ' श्रावकलोकाः । ननु ते तं पूजयन्तः तादृग्गुणा एव भविष्यन्तीत्यत आह-'विकचारगुणान्वया अपि' जगती प्रतीतगाम्भीर्यौदार्य-क्षमादिगुणमहाकुला अपि, आस्तां तदितर इत्यपि शब्दार्थः । कस्मादेवमित्यत आह-उग्रोगगच्छग्रहा इति हेतुगर्भं विशेषणं । लग्नः-चेतसि निविष्ट ' उग्रो ' दृढो ' गच्छग्रहो ' गच्छप्रतिबन्धो येषां ते तथा । भवतु निर्गुणो वा गुणी वाऽयं, किं नोऽनया चिन्तया ? गुरुभिरयमस्माकं प्रदर्शित , तथा अस्मद्वंश्यैरपि अय गुरुत्वेनाभ्युपगतः, न च वय तेभ्योऽपि परीक्षा दक्षा, अतः तत्परिपाटीमनुरुध्यमाना नैन त्यजाम इति विहितस्वगच्छगोचरमनोऽभिनिवेशा इत्यर्थः । अथ विदुराणामपि तेषां

साध्ये निर्यन्त्रे को हेतुरित्यत आह–'महतो' अतिप्रबलस्य 'मोहस्य' मिथ्याऽभिनिवेश स्यापि तथाविधाभ्यर्थनादिकं 'जृम्भितं' लीलायितं, तथाहि–न गुरूपदर्शितत्वं निर्गुणेऽपि तच्छिष्ये अभ्यर्थनादि निबन्धन, यदि हि गुरुः स्वाभ्यर्थनादिना निमित्तेन निर्गुणमपि स्वशिष्यं मोहाद् गुरुतया दर्शयति नैतावताऽसौ बहुमानमर्हति, विवेकिनां गुणानामेव बहुमान हेतुत्वात्, ते चेत् तत्र न सन्ति तदा किं निष्फलेन गुरूपदर्शितत्वेन ?, तथा स्वयमभ्युपगमस्यापि निर्गुणगुरु बहुमानहेतुत्वे उत्तमीभावावपि सुधी स्वकुलक्रमा गतदारिद्र्यादेरपरित्यागप्रसङ्गात् न चैवं लोक उपलभ्यते, यदुक्तं–" सुगुरुप्राप्तौ कुगुरुं, क्रमागतमपि जहति धीमन्तः । चिरपरिचितमपि नोज्झति, निखिलाभे को नु दौर्म त्यम् ॥ १ ॥" ततश्चैवं स्थिते यन्निर्गुणेऽपि गुरुत्वाभ्युपगमेनाभ्यर्थनादि सन्ति स महामोह महिमा एव इति वृत्तार्थः ॥ १३ ॥

एतर्हि गच्छमुद्रामुद्रिततया लोकानां सद्धर्मप्रतिपत्त्यादिना भूतावशामीक्षमाणाः सविषादमाह–

दुष्प्रापा गुरुकर्मसञ्चयवतां सद्धर्मबुद्धिर्नृणां ॥ १४ ॥

व्याख्या–'दुष्प्रापा' दुर्लभा 'सद्धर्मबुद्धि' र्भगवत्प्रणीत–निरुप–चरित–धर्मवि षया । पारमेश्वरस्य धर्मस्य सर्वस्यापि शोभनत्वाविशेषात् किं सदिति विशेषणेनेति चेत् ? न, तस्यापीदानीं कालदोषात् अनुस्रोतः–प्रतिस्रोतोरूपत्वेन द्वैविध्य दर्शनात्, तथाहि–सुख शीलजनैः सिद्धान्तनिरपेक्ष–स्वच्छन्दमतिप्रवर्तितो बहुजनप्रवृत्तिगोचरः पन्था अनुस्रोतः, श्रुतोक्तसकलयुक्त्युपपन्नः स्वयं भगवत्–प्रज्ञापितः प्रेक्षावत् प्रवृत्तिविषयस्तु प्रतिस्रोतः, ततोऽनुस्रोतोऽपव्यवच्छेदेन प्रतिस्रोतः सङ्ग्रहीतुं सदिति विशेषणं । केषां दुष्प्रापा ? 'नृणां' पुंसां 'गुरुकर्मसञ्चयवतां' महाज्ञानावरणादिसम्भारभाजां, सम्प्रति हि गुरुकर्मत्वाज्जीवानां न प्रायेण प्रतिस्रोतसि प्रवृत्तिरुपलभ्यते, यदुक्तं–" अयोग्यभावाद् गुरुकर्मयोगा–लोक प्रवाहस्पृहया दुरापा । प्रायो जनानामधुना प्रवृत्तिः, पथि प्रतिस्रोतसि जैनचन्द्रे ॥१॥" जातायामपि कथञ्चित् भव्यत्वपरिपाकात् प्रादुर्भूतायामपि सद्धर्मबुद्धौ 'दुर्लभो' दुरासदः 'शुभगुरु' र्यथार्थसिद्धान्तप्ररूपणनिपुणो लोकप्रवाहबहिर्भूतचेतोवृत्तिः कालाद्यपेक्षानुष्ठान परिष्ठः सूरिः । अयमर्थः–सद्धर्ममनोरथभावेऽपि सदुपदेष्टृगुरुं विना नासावासाद्यते, यदुक्तं–" धम्मायरियेण विणा, अलहंता सिद्धिमाइणो । ताव । जरपव तुंगसग्गा, भमंति संसारचक्कम्मि ॥ १ ॥" स च प्रायेण साम्प्रतमुत्सूत्रप्रभावकाचार्यप्राचुर्येण तथाविधो नाल्पमाराधलभ्यः, यदुक्तं–"यस्याजन्यविकल्पमल्पलहरीयुग्गुरुरूपः प्रकृपः, सर्ज अम्बेर

यन्ति संसदि मद विस्फूर्जता वादिनाम् । यमोत्सृष्टपद न जातु दिशति क्ष्माक्ष्मापाश्च स प्रायते, सत्वारिशपविज्रितः शुभगुरुः पुण्यैरगण्यैर्यदि ॥ १ ॥" प्राप्ताः–समासादिताः ' स ' तद्विद्गुणगुरुर्गुरुः ' पुण्येन ' भवान्तरसम्भृतसुकृतेन ' चेत् ' यदि, तथापि–शुभगुरुप्राप्तावपि ' कर्तुं ' विधातु ' स्वहित ' आत्मन आयतिसुखावह कर्म सद्धर्म प्रतिपत्तिलक्षणं ' नालं ' न समर्था ' अमी ' पुण्यप्राप्तशुभगुरवो मर्त्याः । अथा सादितसुगुरवोऽपि ते किमिति न स्वहिताय यतन्ते ? इत्यत आह–'गच्छस्य' स्वयत्ना भ्युपेत यतिवर्गस्य ' स्थितिः 'युष्मत्कुलादागतोऽय गच्छोऽस्य एनं विहाय युष्माभिः नान्य देशना–श्रवण–सम्यक्त्व–प्रतिपत्त्यादिक विधेयमिति गुहिणः प्रतीत्य लिङ्गिकृता व्यवस्था, तया ' व्याहताः ' एवंविधशुभगुरु प्राप्तावपि निःसत्त्वतया किमेनां गच्छस्थिति मुञ्चामो न वेतीति कर्तव्यतोद्भ्रान्तान्तःकरणा । एव गच्छस्थितिव्याहत तेषां स्वहित करणासामर्थ्यमुपलभ्य तदुपचिकीर्षुः चेतः समुद्गमरकरुणापारावारः प्रकरणकारः प्राह– ' क भ्रम ' इत्यादि, अतः कं पुरुषविशेष ' भ्रमो ' भजामः ?, क ' इह ' जगति ' आभ येमहि ' समभहि ? क ' आराध्यम ' दानादिनोपचरामः ?, एतेषां भजनादीनां मध्यात्किं ' कुर्महे ' विदध्महे ?, यदि कस्यचिन्महात्मनो भजनेन आराधनेन वा गच्छस्थितिं विमुच्य सद्धर्मप्रतिपत्त्या एते स्वहितमाचरन्ति तदेतदपि क्रियते, परोपकृति धी–धिस्वास्तु पुरुषाणामिति । अथवा यदाहि प्राप्तशुभगुरवोऽपि तत्त्वं जानाना अप्येव गच्छस्थित्या व्याहन्यन्ति तदा क भ्रम इत्यादि, अयमर्थः–अज्ञानानो हि तत्त्व स्वय वा कस्यचिद्भज नाराधनादिना वा तद्बोधयित्वा सद्धर्मे स्थाप्येतापि, एते च मूढा जानन्तोऽपि गच्छ स्थितिव्याहता, इति कथ तत्र स्थापयितु पार्यते ?, तत् सर्वथाऽस्मत्वेतस्यमीषां सन्मार्गव्यवस्थापने न कश्चिदुपायः प्रतिस्फुरति, अतः ' किं कुर्महे ' इति विषादवचनं । इदमत्रैदम्पर्यं–महासत्त्वसत्त्वोपादेयो ह्यय सद्धर्मः, एते चातिक्लीबाः अन्यथा किं विदुषां गच्छस्थितिभिया ?, यद्यपि हि लिङ्गिनः स्वलाभादिहेतुना गच्छस्थितिं दर्शयन्ति, तथापि गृहिणा परीक्षापूर्वं समः प्रतिपत्तव्य इति वृत्तार्थः ॥ १४ ॥

इदानीं कस्यचिद्योग्यस्य–पार्श्वपदप्रायस्य तदसम्भावितप्रदर्शनेन वृत्तावज्ञामाह–

क्षुत्क्षाम किल कोऽपि रङ्कशिशुकः प्रव्रज्य चैत्ये क्वचित् ॥ १५ ॥

व्याख्या—'क्षुत्क्षामः' बुभुक्षया क्षीणकुक्षिः गृहस्थावस्थायां, किलेति सम्भावन, कोऽपि–अज्ञातनामा 'रङ्को' भिक्षाकोऽत्र एव कुत्सितोऽनुकम्पितो वा 'शिशुको' बालः, "कुत्सायामनुकम्पने वा कः" । ततो रङ्कश्चासौ शिशुकश्चेति कर्मधारय । रङ्कस्य वा

कस्यचित् शिशुक इति, प्रव्रज्य–मुण्डीभूय 'चत्ये' लिङ्गिसम्बन्धिजिनगृहे, कचि-दनिर्दिष्टनाम्नि 'कृत्वा' विधाय लज्जादिना कञ्चन कमपि पत्रमूल वलीवर्दं यति भावकं वा पर्श सहाय, न सारकसाहाय्य विना सारज्ञाम्–आचार्यपदलाभसम्भवः । 'अवाप्तकमिव' यस्किञ्चिन्निमित्तमात्रं प्राप्य शिक्षादिभिः सह निरुपमसम्पादितकलहः 'प्राप्त' आसादित [स्सन्]वान् सन् (!) तदिति विवकिनां विडम्बनास्पद 'आचार्यकं' आचार्यत्व–सूरि-पदमित्यर्थः । 'चित्रं' अद्भुतमेतत् 'चैत्यगृहे' देवभवने 'गृहीयति' गृहस्थाचरति, यथा निजगृहे गृही शयना–सन–पान–सम्भोग–ताम्बूलभक्षणादिक निश्शङ्क समाचरति, तथाऽयमपि । तथा 'निजे' स्वकीये गच्छे 'कुटुम्बीयति' कुटुम्बवदाचरति, यथाहि गृहस्थः कुटुम्बे पर्वदिनेषु दानानुप्रदानादिषु प्रवर्तते, एव एषोऽपि साधुमाध्व्यादि वर्गे तथा प्रवर्तमान एवमुच्यते । यदि वा आचार्येण हि स्मारणवारणादिपूर्वक प्रत्युपेक्षणप्रमार्जन शिष्याध्ययनाध्यापनादिनोपरोपरगुणस्थानाधिरोपणेन स्वगच्छो नित्यमेवेक्षणीयः यथा दोष च शिक्षणीय इति सिद्धान्तस्थितिः । यथा गृही द्रव्यार्जनगृहकर्मादिकरणदक्षं पुत्रादिक बहुमन्यते तदन्य चावमन्यते तथा गच्छमध्यादिभामकादि शुश्रूषाकारिणं सदोषमपि भूषयते तदन्य च सद्गुणमपि दूषयति, इति गृहिकुटुम्बमाक्रियाचर्यत्वात् तथा व्यपदिश्यत इति । तथा 'स्वं' आत्मान 'शक्रीयति' शक्रमिव–पुरन्दरमिवाचरति, सहि नीचत्वात् तथाविधचैत्यद्रव्य–शिष्यश्रावकादि–समृद्धिदर्शनात् तु भविष्णुः शक्रोऽहमिति मिमन्यत इति । तथा कतिपयशास्त्रसिद्धान्तज्ञ तथा 'वाक्त्रिशीयति' वाचस्पतिमिव–सूर्वा निवाचरति 'दुधान्' विचक्षणान्, अहमेव सकलशास्त्रपारगामी किमन्ये अत्र विदन्तीति । तथा अतएव चित्रं 'वराकीयति' वराकमिव–रङ्कमिवाचरति । अयमा शयः–ईश्वरो हि कश्चित्प्रव्रज्य प्राप्ताचार्यपदः सन् निर्विवेकतया कदाचित् चैत्यगृहादिषु गृहीयतीत्यादिक विडम्बोऽपि न तथा लोकानां चित्रीयते, गृहवासेऽपि लोकेस्तथा दर्शनात्, अय तु रङ्कशिशुर्दीक्षित्वा परिपक्वासादनेन तथा कुर्वन्ति जनानामुपहास विषयतया महदाश्चर्यभाजनं, तदहो ! ! अत्यन्तमाचार्यादिमनुचितचैत्यगृहे गृही–चरय विमा असच्चेष्टितेन भुवपापाना पापानां मलिनयति प्रवचनमिति वृत्तार्थः ॥ १५ ॥

सम्प्रति पुत्रपित्रादिसम्बन्ध विनाऽपि हठाल्लिङ्गितलोकवाहनोपालम्भद्वारेण श्रुतावज्ञां प्रतिपादयन्नाह—

पैर्जातो न च वर्धितो न च न च क्रीतोऽधमर्णो न च ॥१६॥

व्याख्या—यैः लिङ्गिभिरय जनो न च जातो, जनरान्तरभाविनेनर्थत्वात्–न जनितः–पित्रादिरूपतया न जन्म लम्भितः । चकाराः सर्वेऽपि समुच्चयार्था अवधारणार्था

वा । अथ मा भूत् आतस्तथापि वर्द्धितो भविष्यति, एतावताऽपि बलात् तद्वाहनसिद्धिः अत आह–वर्द्धितो न चेति, एवमुत्तरपदद्वयेऽप्याशङ्क्य योजना कार्या, वर्द्धितो–योगक्षेमादि सम्पादनेन शरीर–पोषं प्रापितः । न च 'क्रीतो' मूल्यदानेना यस्मात् गृहीतः । अधमर्णो न च, उत्तमर्णप्रकाशात् तद्वारादि प्रयोगणार्थगृहीताऽधमर्णः । अत्र च यैरिति कर्तृतया सम्बन्धानुपपत्तेर्येषामिति सम्बन्धविवक्षया षष्ठ्यन्तो योज्य, अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति न्यायात् । तेन यथा लिङ्गिनामयं जनोऽधमर्णोऽर्थधारयिता न भवति, एवमुत्तरत्रापि यथासम्भवं येषामिति सम्बन्धनीयं । तथा येः 'प्राक्' पूर्वं दृष्टो ऽवलोकितो न च, अधमर्णः–ये लिङ्गिभिः स्वधाम्ना दूरदेशवर्तित्वात् कदाचिदपि न दृष्टास्तेऽपि स्वगच्छग्रह ग्रस्तत्वादन्य गुरु वार्ताऽपि न सम्भाषन्त, तमेव गच्छगुरु ध्यायन्तः कालमति वाहयन्ति । 'बान्धवः' पितृव्य–भ्रातृव्यादिसम्बन्धभाग् न च यथा न च 'प्रेयान्' अतिशयेन प्रियतरो मैत्र्यादिसम्बन्धेन, न च 'प्रीणितो' दानसन्मानादिप्रपादिना तोषितः, तैरेव प्रागुक्तसम्बन्धाभावेन लोकवाहनयोग्यतावैकल्येलिङ्गिभिरेव । " एव इत्यव्ययमिह परिमवे ईषदर्थे वा " । ततश्च महापराभवोऽय–यत् तादृशैरपि लिङ्गिभिर्लोको वाह्यते इति 'बलात्' हठेन, न तु प्रणयेन 'वाह्यते' वशीकृत्य स्वकार्याणि कार्यते 'अय' गच्छमहाग्रहगृहीतः प्रत्यक्षोपलभ्यमानो 'जनः' भावुकलोको 'नस्योतो' नासिकायां प्रोत इव 'पशुवत्' वृषभादि इव लिङ्गिभिरुक्तसम्बन्धं विनाऽपि यदयं लोको वाह्यते तन्महा परिभव इति, ननूक्तसम्बन्धं विनाऽपि सद्गुरुत्वेन तेषां नस्तितपशुवल्लोकाः कार्याणि निर्मापयिष्यन्ति, न सद्गुरूपकृत–परहितरतानां गुरूणां धर्मदानोपकारस्य प्रत्युपकारः कर्तुं शक्यते, अत आह–मत्स्यधर्मा(धमै)रिति, लोकलोकोत्तरगर्हितदम–साध्वीप्रतिसेवा देवद्रव्यभक्षण–सुविहितयति–शासनोड्डाहप्रभृति–भूरिपापकर्मनिर्माणात् अतिशयेनाध मेभ्योऽपि–हीनजातीयेभ्योऽप्यधमैर्हीनैः, अतः कथमेषां सद्गुरुतया लोको वाहनीयो भविष्यति, अथैवंविधैरेभिः कथं तर्हि वाहयितुं लोकः पार्यते ? अत आह–' कृतमुनि व्याजैः ' प्रपञ्चचतुरतया विश्वासोत्पादनेन मुग्धजनस्य विप्रलिप्सया रचितशान्तरूप मासोपवासकरणादि छद्मभिः । अयमर्थः–एवमप्रमञ्जसकारिणोऽपि लिङ्गिनो विभ्रम्भ हेतु तथाविधयतिरूपप्रदर्शनेन सुकरपथप्ररूपणेन च सुलब्धान् मुग्धान् प्रलोभ्य यथेच्छ वाहयन्तीति । अमुमर्थं समर्थयितु प्रकारान्तरेण लोकवाहनप्रतीकारमसम्भावयन् सविषाद वैधर्म्येणार्थान्तरन्यासमाह–'नीराजक' विगतमहाशैवर्य–न्यायपरक्षित–प्रजाद्रुष्ट शिक्षाशिष्टरक्षा–विचक्षणनृप । किं राजसहितमपि नीराजकमिव नीराजकमुत्पद्यते ? दा इति विषादे, जग–द् भुवन, न ह्यन्ययोदिता गुणमाशि–राजनि बलाल्लोकवाहनं कर्तुं लभ्यते ।

अयमाशयः—यथा सगुणं रामानं विना तदेशः प्रतिरूप-मलिम्लुचादिभिः उपद्रूयते एव सम्प्रति प्रौढतातिशय-भद्रवचनापेक्षणीय-गणधरादि पुरुषसिंहविरहात्कुलिङ्गिभिरयं भारतभो बाधत इति वृत्तार्थः ॥ १६ ॥

अधुना लिङ्गिनां वैपर्स्य दृष्ट्वाऽपि कदाग्रहात् तत्प्रथित-मार्गात् अनिवर्तमाना न्मूढान् दिङ्मूढत्वादिना विकल्पयन्नाह—

किं दिङ्मोहमिताः किमन्धबधिराः किं योगचूर्णीकृताः ॥ १७ ॥

व्याख्या—किं शब्दाः सर्वेऽपि विकल्पार्थाः, किममी जडा दिङ्मोहः—कुतश्चिद् दृष्टादि निमित्तात् प्राच्यादि दिक्षु प्रतीच्यादिभ्रमास्तं मिताः प्राप्ताः। अयमर्थः—यथा दिङ्मूढाः प्राचीं प्रतीचीत्वेनाध्यवस्यन्तो लोकेन युक्त्या ज्ञापितवथा अपि तदध्यवसायात् न निवर्तन्ते, एवमेतेऽपि विदितकुपथदोषा अपि कुतोऽपि हेतोरनिवर्तमानाः तत्साम्यात योऽयन्ते। किमन्धा—नयनहीना 'बधिरा' उपहतश्रवणाः, अन्धाश्च बधिराश्चेति द्वन्द्वः, ते किम चा? किं बधिरा इत्यर्थः। यथा अन्धा दृग्विकलत्वात्सत्पथस्य ज्ञानम् अजानाना अपथमपि सत्पथतयाऽवगम्य तत्र गच्छन्तो हितैषिणा तत्र त्राप्यमाना अपि स्वग्रहात् न निवर्तन्ते, यथा बधिराः श्रुतिविकलत्वादमाकर्णयन्तो दृष्टचैवाक्षिकादि वचो निन्दार्थः स्तुत्यर्थतयाऽवगम्य तदानादौ प्रवर्तमानास्तत्र बोधिता अपि स्वनिर्बन्धात् न निवर्तन्ते, एवमेतेऽपि सदोषमपि कुपथं स्वगच्छादिग्रहात् निर्दोषितयाऽवबुध्य ततोऽनिवर्तमानास्त योऽयन्ते। एवमुत्तरदेष्वपि भावनीयम्। तथा किं वशीकरणाविहेतुरनेकद्रव्यमेलका पादप्रलेपादियोगः, तादृशेन नयनाञ्जनादिचूर्णं, योगश्च चूर्णं च, स विद्यते येषामिति विग्रहे तदस्यास्तीतीन्। अयोगचूर्णिनः योगचूर्णीकृता, अभूततद्भावे च्विः। मस्तकादिषु योगचूर्णक्षेपेण वशीकृता इत्यर्थः। यथा केनापि धूर्तेन विषयोगचूर्णाः पुमांस आत्मनोऽहितैषिणमपि तं हितैषितया मन्यमाना केनापि तत्त्व प्रत्याय्यमाना अपि योगादि प्रभावेण तद्वचनकरणात् न निवर्तन्ते, तथैतेऽपि कुपथादिति पूर्ववत्। किं 'दैवेन' प्रतिकूलविधिनोपहताः—सद्बुद्धिभ्रंशं प्रापिताः, तेहि विधिवशेन विपर्यस्तमतित्वात्—अकृत्यमपि स्तेयादिकं कृत्यतया मन्वानास्तत्त्वं प्रतिपाद्यमाना अपि दुर्दैवमहिम्ना ततो न निवर्तन्ते, तथैतेऽपि। किं अङ्गेति—पार्श्ववर्त्यामन्त्रणं, ठकिता—मन्त्रादिप्रयोगेण, स्वाय चीकृता, यथाहि केचन केनापि दुरमान्त्रिकेण वशीकरणमन्त्रेण तथाकृताः तद्वचनमत्यन्तं समीचीनतयाऽभ्युपगच्छन्तः तत्पथमवगमिता अपि मन्त्रमहिम्ना न ततो निवर्तन्ते, एवमेतेऽपि। किमेवेति पक्षान्तरे। 'ग्रहै' भूतादिभिः 'अधिष्ठिताः' कृतावेशा—विहितशरीरा

धिष्ठाना इति यावत्, यथा भूताद्यधिष्ठिताः तदावेशात् विवेकापरिज्ञानेनाविधेयमपि पिट्ट महारादिकं विदधानास्ततो निवर्त्यमाना अपि न निवर्त्तन्ते, एवमेतेऽपि सदसद्विवेक विकलतया कुपथात् न निवर्त्तन्त इति। अत्र च दिक्‌मूढादि बहुविकल्पप्रदर्शनमाधुनिकमाद्य लोकानामसत्यत्वानिवृत्त्यै स्वगच्छप्रद्वप्रस्तुतस्थापनार्थं। 'कृत्वा' विधाय 'मूर्ध्नि' पादं 'श्रुतस्य' सिद्धान्तस्य, सिद्धान्तोक्तातिक्रमेण निश्शङ्कतया स्वगुरुलिङ्गिप्रदर्शिता सन्मार्गारोपणमेव श्रुतमूर्ध्निपादकरणं, यतः "नवि किंची" त्यादागमसकलस्य इदमु-त्तरार्द्ध-"एसा तेसिं आणा, कज्जे सच्चेण होयव्वं" इति। अस्य चायमर्थः-एषा भग वतामाज्ञा, यत्कार्ये सत्येन भवितव्यं, कोऽर्थः ? कार्यं-ज्ञानादित्रयं, सत्यं च संयमः, यथा यथा ज्ञानादिकं संयमश्चोत्सर्पेत्तथातथा यतिना निर्माय यतितव्यं, यदाह-" कज्जं नाणाईयं, सच्चं पुण संजमो मुणेयव्वो। जह जह सो होइ थिरो, तह तह कायव्वयं कुणसु ॥ १ ॥ दोसा जेण निरुब्भंति, जेण खिज्जंति पुव्वकम्माइं। सो सो मुक्खोवाओ, रोगाव त्थासु समणं व ॥ २ ॥" न चागमे सुखलिप्सया किञ्चिदनुज्ञातं, किं तर्हि ? भावता विना संयमज्ञानादि यात्रा नोत्सर्पति तावन्मात्रस्यैव विहितनिवारणस्य निवारित विधानस्य च भगवद्भिः पुष्टालम्बनेन कादाचित्कतया तत्रानुज्ञानात्। एवं च कथं श्रुत स्याप्रामाण्यमस्या ? भवदसन्मार्गस्य चौद्देशिकभोजनादेः सर्वस्यापि सार्वदिकतया निर्वि घ्नत्वेन केवलसुखानुभवोद्देशेनैव प्रवृत्तं। तथा च तस्य महासावद्यत्वेन ज्ञानादियात्रा हात्रापमानत्वात् कथं प्रामाण्यमित्याह-अकलितगुणदोषविभागः, स्वपक्षानुरागो यस्या भासानां पक्षभगवन्मतस्याप्रामाण्यस्याऽऽपादनेन स्वमतस्योत्कर्षप्रदर्शनं। किञ्च-तीर्थंकर पूर्वधरादिसातिशयमहापुरुषविरहे सम्प्रति सिद्धान्त एव नः प्रमाणं। यदुक्त-" एवं पि अम्ह सरणं, ताणं चक्खू मई पईवो य। भयवं सिद्धं तो चिय अविरुद्धो इह इह्वादि ठेहिं ॥ १ ॥" तस्य च प्रामाण्यानभ्युपगमे तत्प्रणेतुर्भगवतोऽप्यप्रामाण्याभ्युपगम प्रसङ्गेन भवतस्तन्मूलरजोहरणादिवेषपरित्यागापत्तिः, तथा चाय मुखाश्रया भव त्कल्पितः पन्थाः सर्वोऽपि विरुध्यते, एवं च लिङ्गिनां श्रुतस्य मूर्ध्नि पादकरणमनु चितमपि ज्ञात्वा यदमी प्रत्यक्षगोचराः श्रावक जनाः सुखकगच्छप्रद्वग्रन्थयो 'स्थोरु दोषा अपि' प्राक्तारकतरगुरुतरपूर्वोदितकुपथापराधा अपि, अदृष्टदोषा हि विवेकिनोऽपि कुपथादपि न निवर्तितुमीशते, किं पुनरन्य इत्यपि शब्दार्थः। 'व्याहृति' अपसरण 'कुपथात्' कुमार्गात् 'जडाः' स्वाहिताहितविवेकशून्याः 'न दधते' न चेतसि धार यन्ति न कुर्वन्तीत्यर्थः। न केवलं व्याहृतिं स्वयं न दधते 'असूयन्ति च' ईर्ष्यन्ति, सद्गुणेऽपि दोषमारोपयन्तीति यावत्। चः समुच्चये। एतां कुपथव्याहृतिं करोति, एतत्

कत् तस्मै, "क्रुध-द्रुहेर्ष्यासूयार्थानां" चतुर्थी, महाशयाय कस्मैचित् कुपथव्याधुपविधायिने। अत्र चोत्तरवाक्यार्थगतत्वेन प्रयुज्यमानो यच्छब्दस्तच्छब्दोपादानं विनाऽपि तदर्थं गमयति, तेनायमर्थः—येषां हि दशोपस्थात् कुपथात् तावत्स्वयं व्यावृत्तिः कर्तुं युक्ता, अथ कुतोऽपि हेतोः स्वयं न व्यावर्तन्ते तदा तद्व्यावृत्तिकारिणि प्रमोदो विधातुं सङ्गतः, यत् पुनरमी तद्व्यावृत्तेकमपि कर्तुं नोत्सहन्ते, प्रत्युत कुपथनिवृत्तिविधायिनि कस्मिंश्चित् एकस्मिन्नपि द्रुह्योपद्रवाय यतन्ते, तत्किममी दिग्मोहमिता इत्यादि योज्यम्, तेन एतदुक्तं भवति—दिग्मूढादयो हि हितैषिणा व्यावृत्यमाना अपि दिग्मोहत्याद्रेकर्तावृत्ति मात्रमेव न कुर्वन्ति, एते तु न केवलं कुपथात् न व्यावर्त्यन्ते यावता कुपथव्यावृत्तिकारिणे द्रुह्यन्त्यपीति तेभ्योऽप्यमी कुत्सिता इति वृत्तार्थः ॥ १७ ॥

साम्प्रतं लिङ्गिदेशनया भावैरविधिकृतस्य जिनमज्जनस्यापि दुर्गतिपातहेतुत्वं प्रतिपादनद्वारेण श्रुतपथावज्ञां दर्शयन्नाह—

दृष्टायातितुष्टविटनटभट्टचेटकपेटकाकुलं ॥ १८ ॥

व्याख्या—'जैनमज्जनं' भगवद्बिम्बस्नात्रं कर्तुं 'जनयत्येव' सम्पादयत्येव, नतु कदाचित् न जनयत्यपीत्येवकारार्थः। 'अघपङ्के' पापकर्दमे 'निमज्जनं' ब्रुडनं कर्म, तत्कर्तृणामिति शेषः। अथ कथं पुण्याय विधीयमानं जिनस्नात्रं पापपङ्कनिमज्जनाय प्रभवति इति आह—'अविधिना' सिद्धान्तोक्तक्रमविपर्ययेण, प्राक्तनविशेषणान्यथाऽनुप पत्त्या रात्राविस्यर्थः, सिद्धान्ते हि रजन्यां जिनस्नात्रं निवारितमवस्तत्र तत्कर्तॄणां कथं न पातकमित्यर्थः। अथ क दोषमभिप्रेत्य सिद्धान्ते रात्रिस्नात्रनिवारणमिति दोषप्रदर्शनाय हेतुगर्भं विशेषणत्रयं मज्जनस्याह—दृष्टायाति इत्यादि, दृष्टाया—चञ्चलाया मज्जनदर्शनमिषे णागताया 'अयाति' मेलकस्तया तुष्टा—निःशङ्कमत्राय नः सुरतलीला प्रवर्त्स्यतीति धिया मुदिता 'विटा' वेश्यापतयः 'नटा' नाटकाभिनयकलोपजीविनः 'भट्टा' मल्लादिकलाजीविनः 'चेटका' मासादि—नियमितवृत्तिग्राहिणः, एषां 'पेटक' समुदायस्तेना—'कुल' मुमिश्र, प्रेयसी प्रायेण सात्विककमायना कुलीकृतविटादिभिराकीर्णत्वात् मज्जनमप्युपचारादाकुलं, तथा 'निधुवनविधिनिबद्धदोहदा' मोहनविलसितविहिताभिलाषाः या 'नरनार्यः' पुरुष योषितः तासां 'निकरेण' निचयेन 'सङ्कुलं' व्याप्तं। नारीणां प्रायो निधुवनार्थमेव मज्जनाव लोकनछलेन तत्र गमनात्, तथाविधव्याजमन्तरेण रात्रौ तत्राभ्यागमनासम्भवात्, तथा विधव्याजेन चान्यत्र गन्तुमशक्यत्वात्। अत एव 'रागः' कश्चित् परस्त्री प्रत्यभिष्वङ्गः 'द्वेषः' स्वस्त्रीमन्येन सह सङ्गच्छमानां पश्यतः तज्जिघांसा 'मत्सरः' कश्चित्सौभाग्येन कयाचित्

सङ्घटमानमालोकयतः स्वयं च तां कामयमानस्य तत् सौभाग्यमपेक्ष्य 'ईर्ष्या' स्वप्रेमामन्येन सार्धं सल्पन्तीमीक्षमाणस्य असहिष्णुता, ततो रागद्वेषादि द्वन्द्वः, तामिः 'घनं' सान्द्रं, अत्रापि-रागादिमल्लोकपदस्यात् मज्जनमप्युपचारात् तथा, कामुकलोकमेलके हि जिनगृहेऽपि निशायां रागादय एवोज्जृम्भते, न त्वल्पापि धर्मभावना, तस्मात् दिन एव स्नात्रं धर्मार्थिनां श्रेयो, न रात्राविति। अत्र केचित् उच्यते-रात्रिस्नात्रे न कश्चिद्दोषः, जिनजन्म समयस्य शक्रेण तथाभिधानात्, तथाहि-सर्वेऽपि जिनेन्द्रा रात्रियामद्वयसमय एव जायन्ते, तदैव सुरेन्द्रा मेरुगिरिशिखरे नीत्वा तान् स्नपयन्तीति श्रूयते, तस्य च तथा स दोषत्वे शक्रः तथा न कुर्वीत, तस्मादिन्द्रा चरितप्रामाण्यात् निशायामपि स्नपन विधातव्यमिति चेत् न शक्रो जिनमज्जनं मेरौ करोतीति मन्यामहे, न तु यामिनीयामद्वितीय इति, मेरुशिखरे सूर्योदयास्तमयाभावेन रात्रिदिनव्यवहाराभावात्। कथं तर्हि प्रकाशाभावे तत्रेन्द्राणां जिनमज्जनादिविधिरिति चेन्न, रत्नभूमस्य निरस्ततमःस्तोमभूयद्योतेन विमलमाणिक्यशिलामरीचिनिचयेन देवमहिम्ना च निरन्तरं भासुरत्वात्। एवं च इन्द्राचरितादृष्टान्तेन कथं रात्रिस्नात्रं समर्थ्यमानं सङ्गच्छते ?, श्राद्धानां त्रिसन्ध्यं जिनपूजाया दिनकृत्यत्वेन सिद्धान्तेऽभिधानात्। ततश्च " विधि-किरिया विरुद्धा " इत्यादेरयमर्थो-यः प्रमादादि-सन्ध्यायां वृत्तिनिमित्तवाणिज्यादिव्यग्रत्वात् कथञ्चित् देवपूजायां न व्याप्रियते स दिनमध्ये एव मुहूर्तादिना सन्ध्यातिक्रमेऽप्यपवादतः पूजां करोतु, न पुनरन्याय्यमर्थों, यदुतापवादेन रात्रौ करोति, दिनकृत्यता हानिप्रसङ्गात् प्रभूतायतनाकरणादि दोषप्राप्तेश्चेति। एतेन रात्रौ जिनसदने बलि दान-नन्दि-प्रतिष्ठादि-विधानमपि निरस्तं, प्रायो मज्जनेन समानयोगक्षेमत्वात्, निशिस्नात्रोक्तदोषाणां बलिदानादावपि सम्भवात्। तथाहि-दीक्षार्थं नन्दिकरणं, दीक्षा च स्थूलसूक्ष्मप्राणातिपातविरतिलक्षणा, रात्रौ च प्रकाशनिमित्तज्वलितभूरिदीपकपतङ्गादिकीटानां स्वयं शरीरस्पर्शनेन व्यापादनात्, प्रदीपेषु च सतत निपततां पतङ्गादि जन्तूनां व्यापत्तिभावात्। कीदृशी तावद्गृहीता सर्वविरतिः ?। शिष्यस्य दीक्षाप्रथमक्षणादारभ्य प्राणातिपातप्रवृत्तः, दीक्षादातुश्च दोषसद्भावेऽपि वक्तुं न शक्यते, तच्छिक्षया तावत् तुभ्यात्याघातप्रवृत्तः। अहहो !! मूढा ! एतावन्तं पापकलापमात्मन्यारोपयन्तो भाविभवभ्रमणात् मनागपि न बिभ्यन्तीति। किञ्च दिवसे दीक्षादिलग्नवेलाभावे रात्रौ च तत्प्राप्ते विहारक्रमवदपवादेन कदाचिद्रात्रावपि नन्दि विदधतां को दोषः ? इति चेन्न, विहारक्रमस्यापवादेन रात्रावपि प्रतिपादनात् तत्र कदाचित् तस्करात् युक्त, नन्दिविधानस्य चापवादेनाप्यागमे रात्रावनभिधानात् कथं तद्विधाने तत्र सङ्गच्छेत् ?। किञ्चापवादिक कृत्यानां रात्रिविहारकमादीनां सर्वेषां प्रायश्चित्त

ममिहितमागमे, न च निशि नन्दिविधानस्य तत्रोऽवगम्यते–नास्त्यपवादेनापि रथ्यां नन्दिविधान, एव निशि जिनप्रतिमा प्रतिष्ठायामपि सकलमेतद् दूषणजात विचिन्त्य वाच्यं, तदुक्त–" प्रादुष्यदोषपोषायां, दोषायां साधयन्ति ये । जिनबिम्बप्रतिष्ठां ते, प्रतिष्ठां स्वस्य दुर्गतौ ॥ १ ॥ " तदेव दोषकलापदर्शनाद्रात्रौ मज्जनादि विधायिनां पापपङ्के निमज्जनं भवतीति व्यवस्थितं । इद वक्ष्यमाण च वृत्तद्वय त्रिपदीच्छन्द इति वृत्तार्थः ॥ १८ ॥

साम्प्रत प्रसङ्गेन मज्जनात् अन्यस्यापि धर्मकृत्यस्य संसारनिमित्तत्वं प्रकटयन्नाह–

जिनमतविमुखविहितमहिताय न मज्जनमेव केवलं ॥ १९ ॥

व्याख्या—' जिनमतविमुखविहितं ' भगवदागमवैपरीत्य–निर्मित ' मज्जनमेव ' स्नपनमेव ' केवल 'एक ' अहिताय ' संसाराय न भवति–स्नानमेवैकं अविधिविहितं संसारकारणमिति नास्ति, किन्तु किं तर्हि ? तप्यते यावतोऽशुभकर्माणि यानेनेति तपो ऽनशनादि, तथा ' चरित्रं ' सर्वविरतिः ' दान ' पात्रेषु न्यायार्जितशुद्धभक्तादिवितरणं, आदिशब्दात् जिनचैत्यावृत्त्यादिग्रहः, ततस्तपश्चेत्यादि द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः । तदेवमा द्यप्यनुष्ठान जिनमतवैपरीत्य विहितं, न केवल मज्जनमित्यपि शब्दार्थः । ' न खलु ' नैव 'जनयति' सम्पादयति 'शिवफलं' मुक्तिरूपं फलं । अथ कस्मादेव ? इत्यत आह–'हि' यस्मात् 'अविधिविधिक्रमात्' सिद्धान्तानुक्त–तदुक्तप्रकारेण ' जिनाज्ञाऽपि ' भगवच्छास नोक्तानुष्ठानमपि ' अशुभशुभाय ' अश्रेयः श्रेयसे, द्वन्द्वैकवद्भावादेकवचन । ' जायते ' सम्पद्यते, यथासंख्येयनात्र योजना, तथायमर्थः–किल जिनपूजा–तपःप्रभृतिप्रवचनप्रसिद्धं जिनाज्ञा, भगवता निःश्रेयससाधनत्वेनाज्ञापितत्वात् । तथा च तदप्यविधिक्रमेण–"काले सुइभूएण" इत्याद्युक्तविधिविपर्ययेण क्रियमाणमशुभाय भवति, विधिक्रमेण तु सा ज्ञात्वा या–शासनशुचिभूतत्वाद्विना सदैव शुभाय । विध्यविधिभ्यां भगवदाज्ञाऽऽराधना–नाराधन योरेव मोक्षसंसारफलत्वात् । किं पुनरित्यादि वाक्य काका योज्यं । अत्र च किमित्या क्षेपे, पुनरिति वाक्यभेदे, इति प्रकरणे । सनैषा प्रकृतारात्रिमज्जनादिका क्रिया ' विडम्ब नैव ' प्रवचनापभ्राजनेय–लोकोपहासास्पद, न त्वेषा जिनाज्ञाऽपीत्येवकारार्थः । ' अहित हृतुः ' संसारनिबन्धनं ' न प्रथयत ' न विस्तारयति, किन्तु अवहितहेतुत्वेन प्रख्याप्यते एव, इदमुक्तं भवति–जिनाज्ञाऽपि तपःप्रभृतिका आवश्यकादिका–धाकर्मभोजनादिका वा यदा अविधिना विधीयमाना भवफला तदा किं पुनरदया विडम्बनायाः–सर्वथा जिन वचनबाधाया रात्रिमज्जनादिकाया वक्तव्य ? सुतरामेषा भवहेतुरत्न, अतोऽहितहेतुत्वेन

प्रज्ञाप्यते येन सा तथा प्रज्ञाप्यमाना कस्यापि पुण्यात्मनः स्वतो निवर्त्तनाय प्रभवतीति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥

इदानीं निर्वाणकारणमपि निसर्गेण जिनगृहादि निर्मापण गृहिणः क्रमवादि निर्देशस्याप्यनुबन्धात् भवहेतवे भवतीत्येतत् प्रदर्शनायाह—

जिनगृह–जिनबिम्ब–जिनपूजन जिनयात्रा–दि विधिकृतं ॥ २० ॥

व्याख्या—'जिनगृहं' जिनभवनं 'जैनबिम्बं' भागवती प्रतिमा 'जिनपूजनं' भगवत्प्रतिमायाः कुसुमादिभिः अभ्यर्चनं 'जिनयात्रा' जिनान् प्रतीत्य–अष्टाह्निका कल्याणक–रथनिष्क्रमणादि महामहकरणं, ततो जिनगृहं चेत्यादिद्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः, एवमुत्तरपदयोरपि । आदिग्रहणात् जिनवन्दनप्रतिष्ठादिग्रहः । इह चासकृज्जिनपदोपादानं भगवतोऽत्यन्तभक्तिगोचरतया तदुद्देशेन विधिना जिनगृहनिर्माणस्य परमपुण्यफलत्व स्थापनार्थं, एवमादि धर्मकृत्यजातमिति शेषः । 'विधिना' श्रुतोक्तेन प्रकारेण 'कृतं' निर्मापितं । तथाहि–जिनगृहनिर्मापणविधिः शुद्धभूमिपरिग्रहादिकः, जिनबिम्बे विधिना निर्मापिते प्रतिष्ठापिते चाय पूजनविधिः–सन्ध्या त्रये विधिना शुचिभूत्वा भगवत् बिम्बं महाभाग् पुष्पादिभिरर्चयति, तथा तत्र च कल्याणकादिदिनेषु यात्रा प्रस्तूयते, तत्र चाय विधिः–यथाशक्ति दान–तपश्चरण–शरीरविभूषा–जिनगुणगान–वादित्रादिकरणं । तथा 'दानं' अभयदानादि 'तपो' ऽनशनादि 'व्रतानि' स्थूलप्राणातिपातविरमणादीनि । आदिशब्दात्–विचित्राभिग्रहः । तथा भव चेत्यादि द्वन्द्वः । तथा 'गुरोः' धर्माचार्यस्य 'भक्तिः' शुश्रूषा आगच्छदभिमुखगमनासनदानाभ्युत्थान–गच्छदनुगमन–विश्रामणा–विशुद्धभक्तपानादि दानविधानानुरञ्जनादिका । 'श्रुतपठनं' सिद्धान्ताध्ययनं । आदिग्रहणात् तदर्थश्रवणमननादिग्रहः । एतच्च विवेकिना विज्ञेयेन विधेयं, एतत्पुरस्सरस्यास्य फलप्रागुक्त जिनगृहादिकरणविधिप्रतिपत्तेः । यदाह—"अविहिसि परिविचीए, नियधणं होइ विहिसमारंभो । सो सुयाउ नज्जइ, सो य परम पडुपई ॥ १ ॥ सुया अत्थे ममो, अहियपरो नवरि होइ कायव्वो । इत्तो उभयविसुद्धि, सुयणं फलदं सुयमिति ॥ २ ॥" एतदन्तरेण समस्तस्यापि क्रियाकलापस्यान्धमूक साम्यापत्तेः । ततो गुरुभक्तिश्चेत्यादि द्वन्द्वः, चः समुच्चये । भावत सद्गुमानं, न स्वपदलया । एतत्सकलं जिनगृहादि–दानादि–गुरुभक्त्याद्यनुष्ठानं, किमित्याह– 'स्यात्' भवेत् इह प्रवचनं, अनभिमतकारीति सम्बन्धः । कस्मात् अत आह–क्रमवेत्यादि, तत्र 'क्रमतः' पर्वतिथिसमयाभिहित क्रियाकदम्बकं भाद्रपदचन्द्रसूर्योपराग–

सङ्क्रान्ति–माघमाला–प्रपादानादि, कुगुरु–कुत्सितदेशनाकरणप्रवणः सन्मार्गदूषणपराश्चो धार्मिकजनमुग्धोपद्रवतत्परः मुखलोलतया यतिक्रियाविकलो जनविप्रलिप्सया दुष्कर-क्रियानिष्ठोऽपि वा लाभपूजाख्यातिकामः कुत्सित आचार्यः, कुग्राहः–सिद्धान्तबाह्य–स्वमतिकल्पित–स्वाभ्युपेतासत्पदार्थसमर्थ–नानुष्ठानगोचरो मानसोऽभिनिवेशः, कुबोधो ऽन्यथा व्यवस्थितस्य भगवदागमार्थस्याज्ञानाद्विशिष्टसम्प्रदायाभावाद्वाऽन्यथा परिच्छेदः, कुदेशना–श्रुतोक्तार्थानां संप्रदायाज्ञानात् मिथ्याऽभिनिवेशाद्वा वैपरीत्येन प्ररूपणं, अत्र च कुगुरुग्रहणेन कुदेशनालाभेऽपि पृथग्गुणादानं तस्याः सकलेतरदोषेभ्यो महत्त्वख्यापनार्थं, ततः कुमतं चैत्यादि दूरतः, तावन्मात्रो–लेशस्तस्मात्, आस्तां कुमतादिभ्यः समग्रेभ्यः, किन्तु तेषामल्पमात्रादपि 'स्फुटं' व्यक्तं निश्चितमिति यावत्, अनभिमतकारि–अनिष्टविधायि दुरन्तसंसारकान्तारनिरन्तरपर्यटनकारणमित्यर्थः। ननु कथमेतानि गरीयांसि धर्मकृत्यादि लेशमात्रेणापि प्रतिहन्यन्ते ? नहि मृणालतन्तुना दन्तिनः प्रतिबध्धुं पार्यन्ते इत्याशङ्क्य विवक्षितार्थप्रसाधनानुगुणमुपमानमाह–'वरभोजनमिव' स्निग्ध–मधुर–सुस्वादुजेमनमिव, इवेत्युपमानद्योतकमव्ययम्। 'विषलवनिवेशतो' गरलकणप्रक्षेपात्। अयमर्थः–ईदृशी हि विषकणस्यापि पारिणामिकी शक्तिर्यया द्रव्यमपि बह्वपि भोजनं क्षणादेव सकलमसौ स्वात्मभावेन परिणमयति, तथा परिणमितं च तद् भुज्यमानमपायाय जायते यथा, तथा कुमतादिलेशस्यापि मिथ्यारूपत्वात्–एवंविधो महिमा, येन महीयोऽपि जिनगृहविधानादि धर्मकर्मस्वस्वरूपतया भावयति, तद्भक्ति च तद्विधीयमानमपि संसाराय सम्पद्यत इति, अत एव सम्यक्त्वशुद्धिहेतवे कर्तव्यतया अभिहितान्यप्येतान्यसमञ्जसरूपया क्रियमाणानि तदभावापादकत्वेन श्रूयन्ते, यदाहुः श्रीहरिभद्रसूरयः–" पाएणणंत देउल जिणपडिमा कारिया उ जीवेहिं। असमंजसवित्तीए, न य सिद्धो दंसणलवो वि ॥ १ ॥ " तदेवं विषलवसंवलितभोजनोपमानेन जिनगृहादिविधानस्य कुमतादि लेशसंस्पर्शिनोऽप्यनभिमतकारित्वं व्यवस्थितमिति वृत्तार्थः ॥ २० ॥

अधुना मुग्धजनाकर्षणनिमित्त–जिनबिम्बप्रदर्शनादि द्वारेण लिङ्गिनां लोकप्रतारणं दर्शयन्नाह—

आकृष्टुं मुग्ध–मीनान् बिडिश–पिशितवत्–बिम्बमादर्श्य जैनं ॥ २१ ॥

व्याख्या—आकृष्टुं मुग्धमीनान् जैनबिम्बमादर्श्य नाम जैनैर्जनोऽयं वञ्च्यते इति सम्बन्धः। तत्राकृष्टुमिति स्ववशमानेतुं, न तु पुण्यमर्जयितुं, मुग्धा–हेयोपादेयविचार

शून्यतया धर्मभ्रष्टाधमाः त एव सकलप्रकटितया स्वहिताहितपरिज्ञानवैकल्यतासाधर्म्यात् मीनामत्स्यास्तान् 'बिम्ब' प्रतिमां 'बैल' मागधन्त 'आदर्श्य' दर्शयित्वा, यथा—भो भव्याः! ऐहिकामुष्मिकसुखविधानदक्षमिदमार्हद्बिम्बं, ततः पूजयत भक्त्येति सामान्यतोऽथवा अत्र स्पर्धैः एतद्बिम्बमार्हतं निर्मापितं, ते चेदमेव भक्त्याऽर्हं नियमेनापूपुजन्, ततो भवद्भिरपीदमेव विशेषेण पूजनीयं, तथाऽर्हद्बिम्बनिर्मापणमेव सम्प्रति भवभ्रमणविनिपतज्जन्तुतारणापालमिति भवद्भिः स्वश्रेयसे नवीनं भगवद्बिम्बं स्वनाम्ना स्थापनीयमिति विशेषतो मुग्धजनपुरतः प्रज्ञाप्येत्यर्थः। किल यतिना देशनाद्वारेण जिनबिम्बार्चनादि—गृहिपुरः फलमुपवर्णनीयं, तत्फललिप्सया तदनुसारेण गृहिणः स्वयमेव तत्करणादौ प्रवृत्तेः, न तु साक्षात् तद्बिम्बनिर्मापणयोरुपदेशो दातव्यः तदुपदेशस्य भावयतया यतेर्निषेधात्, लिङ्गिनस्तु कथमाजन्मामी गृहिणोऽस्माकं वश्या भविष्यन्तीति धिया ऐहिकमेव स्वार्थं केवलं चिन्तयन्तो धूर्ततया पूर्वपुरुषसम्बन्धितादि क्रमेण मुग्धेभ्यो जिनबिम्बमादर्शयन्ति, ते तु मुग्धत्वात् तदाशयमनवबुध्यमाना अनुभवदाहुतापूर्वकव्यसनेह—स्वकारित—ममत्वादिना तत्र जिनबिम्बादौ नित्यं द्रव्यं व्ययते, लिङ्गिनश्च तदुपयुञ्जते स्वेच्छयेति भवति तदाकर्षणार्थं लिङ्गिनां जिनबिम्बदर्शनमिति। किमिवेत्याह—'बिडिश' मत्स्यबन्धनं, तदग्रे मत्स्यविलोभनाय स्थापितं 'पिशितं' मांसं, तद्वत्। चरितरूपमाने, तदिव। यथा धीवरा मत्स्याकर्षणाय बिडिशाग्रे पिशितं स्थापयन्ति, त च लल्लोलतया स्वापायमागामिनमविभावयन्तो गम्भीरादपि नीराशयाभिर्गत्य मुग्धत्वात् तत्र विलीयमाना बध्यन्ते, एवं लिङ्गिनोऽपि मुग्धजनानां स्ववश्यताविधानायोक्तविधिना भगवद्बिम्बमादर्शयन्ति, न तु संसारनिस्तरणाय।

ननु कथं जिनबिम्बबिडिशपिशितयोरुपमानोपमेयभावः? समानगुणयोरेवोभयोरलङ्कारमन्यपूपमानोपमेयभावप्रतिपादनात्, महाकविकाव्येषु तथैव दर्शनात्, अत्र तु जिनबिम्बस्य सकलत्रिभुवनातिशायिनः सर्वोपमातीतत्वात्—अत्युत्तमवस्तूपमायोग्यत्वाद्वा, बिडिशपिशितस्य च सर्वथात्यन्तहीनत्वात्कथं तेनोपमा?, उत्तममात्रस्यापि हीनमात्रेणाप्युपमानोपमेयभावो न युक्तः, किम्पुनः सर्वोत्तमस्यात्यन्ताधमेन?, एवं च जिनबिम्बस्य बिडिशपिशितेनोपमानोपमेयभावप्रदर्शने कवेर्महापापप्रसङ्गः, तत्सर्वथा भावत्युपमानोपमेयभावो घटां प्राञ्चतीति त(स्थे)म। लोकाकर्षणेन स्वनिर्वाहहेतोर्लिङ्गिपरिगृहीतस्य जिनबिम्बस्योत्तमस्याप्यसदुपाधिवशात् दुष्परिवारपरिवृतराजादेरिव वाञ्छितफलासाधकत्वात् हीनताऽध्यारोपणोपमानेन साम्यापादनादुपमानोपमेयभावोपपत्तेः। अत्र चापविशेष बिडिशपिशितेनोपमानं लिङ्गिपरिगृहीतस्य जिनबिम्बस्यात्यन्तहेयता ज्ञापनार्थं, भागमेऽ-

१

तिहयस्याधाकर्मादेः गोमांसादिनैवोपमानोपमेयदर्शनादिति युक्तमुक्तं 'विडिशपिशितवद् 'बिम्बमादर्श्यमेन'मिति । साम्प्रतं प्रकृतमुपक्रम्यते—यथा 'तन्नाम्ना' जिननामधेयेन—भगवद्भाण्डागारनिमित्तमेते निर्माप्यन्ते, नास्मन्निमित्तमिति व्यपदेशेन 'रम्यरूपान्' रुचिररचनया दृष्टवचनया च मनोहराकारान् 'अपवरका' मन्तर्गृहा 'मठा' निलय विशेषास्ततो द्वन्द्वस्तान् 'स्वेष्टसिद्धयै' स्वयमेवाक्लमसुखेन वस्त्याम इत्यात्माभिमतनिष्पत्तये 'विधाप्य' कारयित्वा, ते हि शठाः स्वनिमित्तमपवरकादीन् निष्पादयन्ति मुग्धांश्च ज्ञापयन्ते—जिननिमित्तमित्यहो !! एतेषां जिनभक्तिरिति, तेषु ते रज्यन्ते तथैवोपजीव्यन्त इति वञ्चनप्रकारः । तथा 'यात्राः' पित्राद्युद्देशेन भवद्भिरष्टाह्निका कर्तव्या, अमुष्मिन्वा मासावामुना भावेन श्रीमत्यत्र देवगृहे यात्राः कृतास्तस्माद्भवद्भिरपि तथैव विधेया । तथा 'स्नात्रं' भाद्रपदादिषु पित्रादेः श्रेयसे युष्माभिरत्र स्नात्रं कर्तव्यमित्युपदेशव्याजेन यात्रास्नात्रविधापनं, ततो द्वन्द्वः । आदिशब्दाच्छुल्कानुकम्पापर्वग्रहः । तदादय 'उपाया' मुग्धविप्रलम्भनप्रकारास्तैः । ननु कथमेवंविधयात्रादीनां मुग्धवञ्चनप्रतारकत्वं ? यावता यथातथा भगवत्पूजायाः कुशलानुबन्धहेतुत्वादिति चेन्न, एवं हि लोकवेदाहरणप्रामाण्येन भगवत्पूजाविधाने भगवतोऽप्रामाण्यो(प)पादनम् मिथ्यात्वादिप्रसङ्गात्, यदुक्त—"जिदुम्मि विज्जमाणे, उचियं अणुचिट्ठएजमणुचियं । लोगाहरणं(प) न तहा, पयडे भगवयवयणम्मि ॥ १ ॥ लोगो गुरुतरगो खलु, एवं सइ भगवओवि इट्ठोवि । मिच्छत्तं य एवं एसा आसायणा परमा ॥ २ ॥" तथा 'नमसितकं' उपयाचितकं—भवता मिदानीमीदृगुपद्रवः समुपस्थितः तस्माद्भवद्भिस्तन्निवृत्तये जिनयोऽत्रदेवताऽम्बिकादिभ्य सनदुराणामियद्द्रव्यमेषणीयमिति गृहिणः प्रतिजिनाद्युद्देशेन विचम्यपविधापनमिति यावत् 'निशाजागर' उपसर्गवर्गोपशमनाय प्रवचनदेवतादीनां पुरतो वस्त्रादिस्थापन—गीत-वाद्यलास्यपुरस्सरं सकलरात्रिजागरणं । ततो द्वन्द्वः । आदिग्रहणादन्येषामपि शान्तिकपौष्टिकानां सङ्ग्रहः । तदादीनि 'छलानि' छद्मानि—लोकोपजीवनार्थमागमान भिहितत्वेन विलोभननिमित्तानीति यावत्, तैः करणभूतैः, चशब्द उक्तवचनप्रकार समुच्चये । श्रद्धालु—विवेकविकलधर्मेच्छावान्, विवेकिनो हि प्रायेण नैवंविधैः प्रतारयितु पार्यन्त । 'नामतः' संज्ञामात्रेण जैनै—र्जिनदेवतैर्न तु क्रियया, भ्रष्टाचारत्वादेषां, तेन लिङ्गिभिरित्यर्थः । 'शठैः' प्रपञ्चप्रपञ्चनचतुरैः, छलित इवेत्युपमान, यथा 'छलितः' शाकिन्यादिभिर्वशीकृतः तथाविधचेतन्यराहित्यात्सुखेन वञ्चयितुं शक्यते, तथाऽय—एष 'जनः' भावलोको हा !!! इति विषाद 'वञ्चयते' विप्रलभ्यते, महानयम् अस्माकं चेतसि विषादो—यद्धर्मार्थी लोको धूर्तैः स्वार्थं वञ्चयित्वा दुर्गतौ पात्यत इति वृत्तार्थः ॥ २१ ॥

इदानीम् अत्युच्छृङ्खलानामपि नाम जैनानां दशमाश्चर्यानुभावात् अभ्युदयं च विषादपुरस्सरं दर्शयन्नाह—

सर्वत्रात्यगिताश्रवाः स्वविषयव्यासक्तसर्वेन्द्रियाः, ॥ २२ ॥

व्याख्या—'सर्वत्र' लोकमध्यमसमक्षं च, आश्रवति-सञ्चिनोति जीवः कर्मभिरित्याश्रवाः। यत्र प्राणातिपातादयः ततश्चात्यगिता-अनिरुद्धा आश्रवा येस्ते तथा। स्वविषयेषु आरम्भप्रायेषु रूप-रस-गन्ध-स्पर्शशब्देषु 'व्यासक्तानि' उपभोगप्रवणानि 'सर्वेन्द्रियाणि' सकलकरणानि-चक्षु-रसन-घ्राण-त्वक्-श्रोत्राणि येषां ते तथा, यतिना हि निगृहीतेन्द्रियेण भवितव्य, अन्यथा प्रव्रज्याया जीवनमात्रतापत्तेः। तथा गौरवाणि' आत्मन्युत्कर्षप्रत्ययहेतवोऽध्यवसायविशेषास्तानि च ऋद्धिरससाताऽतिरेक-हेतुकत्वेन कारणे कार्योपचारात्-रिद्धिरससातसंज्ञान्येव त्रीणि, तैश्चण्डाः-तस्मादत्यर्थेनोद्धुरा दण्डाः दण्ड्यते-दुर्गतिपातेन दुःखं व्याप्यत आत्मा अमीभिरिति दण्डा-अकुशलमनोवाक्कायाः त एव देहिनामुन्मयप्रवर्षकत्वादपलत्वाच्च 'तुरगा' अश्वाः ततश्च 'चरन्तो'ऽनियमिततया यदृच्छया प्रसरन्तो गौरवचण्डा दण्डतुरगा येषां ते तथा 'दुष्यन्तः' प्रथमीभवन्तः यथा योरगा येषां ते तथा। यतीनां हि श्रामण्यैकस्योत्पादनात् कषायाः कर्तुं न युज्यन्ते। एवं तावत्समाश्रवविरमण-पञ्चेन्द्रियनिग्रह-दण्डत्रयविरति-कषायचतुष्टयप्रशमलक्षणगम दशविधसंयमाभावेन तेषां लोकोत्तरबाह्यत्वं प्रदर्श्य इदानीं लोकलोकोत्तरबाह्यत्वमपि दशयन्नीत्याह—'मुर्चाटत्य कृतोऽपि' लोकलोकोत्तरविरुद्धामक्ष्यभक्षणपुष्पफलाद्युपभोगाद्य सदाचारकारिणोऽपि नामजैना इति प्राकृतं 'कष्टं' महद्दुःखमेतत् 'अधुना' साम्प्रतं 'शिरसा' आस्य 'मुनिमूर्धसु' सुविहितमुनिमस्तकेषु, प्रतिपदमयथा सुविहितानाम् दोषारोपेण तापयोत्पादनमेव हि तथा तन्मूर्धस्वारोपणं। 'उद्धतधियो' नास्तिकमार्गगा जगति साम्प्रतं कस्मिंश्चिदिति दर्पोऽधिकतया 'तुष्यन्ति' सुविहितं यथा अस्य मृत्युः मिश्रपूर्णया इत्याद्युपनाम मोदन्ते 'पुष्यन्ति च' मात्सर्यादिदुर्विचारेण साधवादि पूजया च पर्दन्ते। 'चः' समुच्चये। अथ कथमेवंविधा अपि मुनिमूर्धास्थानेन ते तुष्यन्ति पुष्यन्ति चेत्यत आह—'अनपायपदाभाविताः' चाभावात्पायपदाधिपाङ्गुलास, 'यत' इति हेतुगर्भं विशेषणं। एतदुक्तं भवति-न सर्वविपाकदायविपाकिनो महामुनीनां अस्तकेषु स्थाने कर्तुं पारयन्ति, कथमिव दुर्लोकगा अपि ता न तोयं चोपं च न प्राप्नुवन्ति, महामुनितिरस्कारमात्रमपि हरकारिणामिदैव हानि भवनात्, परं पदस्थापनधारिणोऽपि लिङ्गिनः सुविहितोत्सिकरहस्यापि मन्यन्ति तत्कृते नृपाधर्मधर्मादिमाऽपमिति कृपाया ॥ २२ ॥

साम्प्रत तेषां प्रत्यह सर्वविरतिरूपप्रत्याख्यानभङ्गकरणेन तपभरनायमाव प्रतिपादयन्नाह—

सर्वारम्भ-परिग्रहस्य गृहिणोऽप्येकासनाद्येकदा ॥ २१ ॥

व्याख्या—'सर्वारम्भ परिग्रहस्य' सकलसावद्यव्यापार धनधान्यादिसङ्ग्रह-तत्परस्य 'गृहिणोऽपि' श्राद्धस्यापि, आस्तां महामुनेरित्यपि शब्दार्थः । 'एकाशन' मन्तर्दिवसमे कवारनियमितभोजनः प्रत्याख्यानभेदः तदादिर्यस्य निर्विकृतिकादेः तदादिप्रत्याख्यान 'एकदा' कदाचिदष्टम्यादितिथिषु प्रमादबाहुल्येन नित्यप्रत्याख्यानाभावात् 'प्रत्याख्याय' निपद्य, तदपि कदाचित्तदेकाशनादि ' न रक्षतो 'ऽनाभोगसहसाकारादिना न पालयतो—भञ्जत इत्यर्थः । 'हृदि' चेतसि 'भवेत्'—जायेत 'तीव्रो' निष्ठुरोऽनुतापो—बहुना कालेन तावदद्य प्रत्याख्यानं कृतं तदपि मया मन्दभाग्येन भग्नमतो धिग्मां, कथ मे शुद्धिर्भविष्यतीत्येवंरूपः पश्चात्तापः 'सदा' सर्वदा यावज्जन्म-प्रायश्चित्तं गुरुभ्यो नाददति । 'षट्कृत्वः' त्रीन् वारान्सायन्तनप्रतिक्रमणे । त्रींश्च प्रगेतनप्रतिक्रमणे षड्वारान् "सव्वस्सवि देवसिय दुच्चितिय दुब्भासिय दुच्चिट्ठिय" इत्यादौ सप्तदशवारान् "सब्बस्साया वारे कृत्वस् तद्धितः" त्रिविध त्रिविधेति, अनेन सामायिकसूत्रमुपलक्षयति, किल सावध: सायन् प्रातश्च प्रतिक्रमणे सामायिकसूत्रमुच्चारयन्तस्त्रिविधं त्रिविधेनेति पठन्ति, यथा—"[करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं" मित्यादि] । तत्र त्रिविधमिति तिस्रो विधा यस्येति त्रिविध—कृतकारितानुमतलक्षण, त्रिविधेति त्रिविधेन करणेन मनोवाक्कायरूपेण सावद्य योगं प्रत्याख्यामि इत्यत्र रूपतया 'अनुदिन' प्रतिवासरं 'प्रोच्य' अभिधाय—प्रतिज्ञाया पीत्यर्थः, अप्रतिज्ञातानुष्ठानस्य हि भङ्गेनापि न तथा दोष इत्यपि शब्दार्थः । 'भञ्जन्ति' खण्डयन्ति ये लिङ्गमात्रधारिणः तेषां । 'तु' गृहिणो भेदप्रदर्शनार्थः, क्व तच्छ्राः सर्वेऽप्य श्रमाण्यप्रकाशेपार्थाः । 'तपो'ऽनशनादि, नित्यप्रत्याख्यानस्य सर्वसावद्ययोगविरति रूपस्य सकललोकसमक्षमभ्युपेतस्य भङ्गप्रदर्शनेन नैमित्तिकप्रत्याख्यानस्यापि कथञ्चि ल्लोकपङ्क्त्या विहितस्योपवासादेः भङ्गानुमानात्—नास्त्यत्र तेषां कश्चित्तप । क्व 'सत्यवचनं' तथ्यवाक् ?, सर्वं सावद्यं योगं न करोमीत्यभिधाय पुनस्तस्यैव सविशेषसेवनात्, प्रत्यक्षमृषावादिताप्रसङ्गेनांशेनापि सत्यवचनाभावात् । क्व 'ज्ञानिता' सिद्धान्तरहस्य परिच्छेत्तृत्व ?, ज्ञानस्य हि फलं विरतिः तस्याश्च भावशीलतया तैः समूलमुन्मूलनात् तथा च कथञ्चित्सतोऽपि ज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वेन तदाभासत्वात्, ज्ञानगन्धोऽपि तेषां नास्तीति । क्व 'व्रतं' दीक्षा, दीक्षापादानेऽपि प्रत्याख्यानभङ्गादर्शीकमात्रेण दीक्षाया

ऽपायकपापादनात् अत तेषां नास्ति । अत्र चासकृत्तच्छब्दोपादानेन लोके लोकोत्तरे च तपःप्रसूतेः तपस्तादिकं न सम्भवतीति ज्ञाप्यते, तेनायमाशयः—यदा किल गृहिणोऽपि सतत गृहारम्भसंरम्भवत्त्वात्प्रमादभरनिर्भरा अप्यनवगततत्त्वा अपि कदाचित्प्रत्याख्यानभङ्गेनैवमनुतप्यन्ते, तदा सुतरां यतीनां सर्वसावद्ययोगविरतानां विदितागमसाराणां कथञ्चित् विरतिभङ्गे पश्चात्तापः प्रायश्चित्तग्रहणं युक्तः, ये तु निःशूकतया तां भञ्जन्तो मनाग्लज्जामपि नावहन्ति तेषां नास्त्येव तपःप्रसूतीति वृत्तार्थः ॥ २३ ॥

इदानीं तेषां लोकोपहासपुरस्सरं जिनपथपरिपन्थित्वं वृत्तद्वयेन प्रकटयन्नाह—

> देवार्थव्ययतो यथारुचिकृते सर्वर्तुरम्ये मठे ॥ २४ ॥
>
> इत्याद्युद्धतसोपहासवचसः स्युः प्रेक्ष्य लोकाः स्थितिम् ॥ २५ ॥

व्याख्या—येषां स्थितिं प्रेक्ष्य लोकाः सोपहासवचसः स्युरिति सम्बन्धः । कथमित्याह—अहो इति विस्मये, सितपटाः—श्वेताम्बराः 'कष्टं' दुष्करं 'चरन्ति' अनुतिष्ठन्ति 'व्रतं' प्रव्रज्यां, महदाश्चर्यमेतत्—यत्-सितपटाः कलाबन्येवंविधं व्रतकष्टमनुभवन्ति, नहि सम्प्रतितनैर्मानवैरल्पसत्त्वैरेवंविधं कष्टं कर्तुं शक्यते, अथ च सुखैरप्येवंरूपं व्रतं कर्तुं पार्यत एव, सुखहेतुत्वादित्युपहासः । अत्र कथमेषमुपहासः तेषां तैः क्रियत ? इत्यत आह—'साधुव्याजेन' यतिछद्मना विटाः, नामी भावतः साधुगुणायोगात्, किन्तु साधुव्याजेन विटाः, सकलतल्लक्षणोपपत्तेः । तदेवाह—'देवार्थव्ययतो' देवगृहाधिपत्ये न तद्द्रविणस्य तदधीनत्वात् जिनवित्तविनियोगेन 'यथारुचि' स्वमनोऽभिलाषानुरूपमित्यर्थः । 'कृते' निष्पादिते 'सर्वर्तुरम्ये' सकलवसन्तादिरूपतो विभक्तकालविशेषमनोहरे मठे प्रतीते, तत्र 'नित्यस्थाः' सततवासिनः, सुविहिता हि देवद्रव्योपभोगभयात् यतिनिमित्तनिर्मितत्वेन महासावद्यत्वाच्च मठे न वसन्ति, किन्तु याचिते याचन्ति—वाचयन्ति परगृहादावेव, तत्रापि ना[न]वरत वसन्ति, नित्यवासस्य च यतीनां श्राद्धादिप्रतिबन्धलाभवादिहेतुत्वेन प्रतिषेधात्, उद्यतविहारस्यैव ममकाराद्युच्छेदनिमित्तत्वेनाभिधानात् । एते तु सातलम्पटतया मठे नित्यकृतस्थितयो विलसन्तीति कथं न भवन्ति विटाः ? । तथा 'शुचयो' निर्मला 'पट्टतूल्यः' पट्टांशुकसंवीता हंसतूलादि मयाः अप्यासिकाविशेषा , यद्वा 'पट्टाः' श्रीपर्णादि दारुनिर्मिता ताः 'शयनं' शयनीयं येषां ते तथा, साधवो हि कम्बलादि संस्तारक एव शेरते, न पट्टतूल्यादिषु, तासां प्रमार्जनाद्यशुद्धे विभूषाप्रातशीलत्वप्रसङ्ग कृत्वालोकोपहासहेतुत्वाच, एते तु तत्र शयाना विटत्वं प्रकटयन्ति । तथा 'सद्गन्दिका पासता' शोभनगन्दिकायासनाः—शोभनगन्दिकामसूरकादि विष्टरमात्रः, गन्दिकायुप

वेशने च दोषा मुनीनां प्रागेवोक्ताः । 'सारम्भाः' मठ-वाटिका-कूप्यादि-महासावद्य-व्यापारकरण-कारण-प्रवणाः 'सपरिग्रहाः' गृहिवत् वाणिज्यादिप्रयोजनेन धनधान्य स्नेहादिभाण्डसङ्ग्रहपरायणाः 'सविषयाः' चक्षुरादीन्द्रियानुकूल-नर्तकीदर्शन-ताम्बूल स्वादन-चन्दनाद्यङ्गराग-गन्धर्वगीत-श्रवणादिविषय-सततानुषक्तचेतसः 'सेर्ष्या' विषयासक्तत्वात् कामुकत्वादभिमतां योषितमन्येन सार्द्धमालापादिविदधानामवेक्ष्य तं प्रत्यसूयामाजः 'सकाङ्क्षाः' सम्भोगविलासाभ्यासातिवृष्णया नवनवोपजायमानरिरंसो त्कलिकाः । आरम्भादयश्च यतीनां बहुदोषत्वादनेकधा निषिद्धा एव । 'सदा' सर्वदा, विषयाद्यासेवनादिभवाभ्यासात्, कदाचित् साधुमुनेरपि कस्यापि चेतोविकारमात्रं प्रादुःष्यात्, न तु सर्वदा, तदैव तेषां ज्ञानाङ्कुशेन स्वचित्तमाकृष्य मिथ्यादुष्कृतादि प्रायश्चित्तमति पत्तेः, इति साधूक्त-'साधुभ्याश्रविदा' इति ॥ २४ ॥

'इति' उक्तप्रकाराणि, आदिशब्दात् अन्यान्यप्येवं प्रायशः विडम्बना व्यञ्जकानि वर्चांसि गृह्यन्ते । तत्र इत्यादीनि-उद्धतानि-वहुजनवदनस्य मुद्रापिधानशक्यत्वादनि इत्थङ्कतयोद्गतानि, सर्वत्रास्खलितानीति यावत् । 'सोपहासानि' हास्यासमाक्षि 'वर्चांसि' वचनानि येषां ते तथा स्युः-मैवपूर्वोक्ताः-प्राकृतजनाः कुतीर्थिकभाविताश्च जैनपथमत्सरिणः 'प्रेक्ष्य' साक्षात्कृत्य, येषामिति पदं तुर्यपादस्थितं सकलं वाक्यं दीपयति, तेन येषां स्थितिमित्यादि सम्बध्यते । 'स्थितिं' यति अनुचितासमञ्जसामाचारीं,स्वरूपेणैव तावत् मत्सरिणः सर्वस्याप्युपहासं कुर्वन्ति, किम्पुनः सम्प्रति निरतिशयस्य जिनशासनस्य ?, तत्रापि लिङ्गिनां तथारूपं वैरूपं व्यवहारं वीक्ष्य कथङ्कारं न कुर्युरित्यर्थः । तथा 'श्रुत्वा' आकर्ण्य येषां स्थितिं 'अन्ये' अपर 'अभिमुखाः' खेदपदर्शनेभ्यः सकलो पपत्तिकलितमिदं जैनदर्शनं, यतोऽप्यत्र दर्शने छान्तात्मानः क्रियानिष्ठाश्चोपलभ्यन्ते, ततोऽस्माकमपीदमङ्गीकर्त्तुमुचितमिति चेतसोऽभ्युपगमविषयीकृतजिनशासनास्तेऽपि, आसतां तदपर इत्यपेरर्थः । 'श्रुतपथात्' जैनसिद्धान्तमार्गात् वैमुख्य, एतावन्तमनेहसं वयमेवम् अज्ञास्याम-यदेतदेव तात्त्विकं धर्मदर्शन निरपवादं, परं यदत्राप्येवं विधा असदा चारकारिणो विलोक्यन्ते तदाऽलमनेन ताम्र-हिरण्मया-लङ्कारदेशीयेनान्तो निस्सारेण बहिर्मात्रमनोहरेण सर्वथा, प्राक्स्वीकृतमेवास्माकं दर्शनं श्रेयः, अहो जैना अन्यथा वादिनोऽन्यथाकारिण इत्यादि वचनसन्दर्भेण 'वैमुख्य' पराङ्मुखत्व सर्वथा बहि र्भावमिति यावत् 'भात यते' दर्शयन्ति । तथा येषां 'मिथ्योक्त्या' मृषावचनेन, ते हि स्खलिताचारत्वेन सर्वशङ्कितत्वात् भ्रमभङ्गमुत्थेष्टितं प्रति कर्णाचित्प्रष्टाऽसन्तो मति म्लुचवदलीकं भाषन्ते, यथा-क एवमाह ?-न वयमेवंविधमेव कारिण इति । तत्र

'दृष्टोऽपि' सम्यग्दृष्टयो जिनमतान्तःस्था अपि प्रायशः, किम्पुनरन्ये ? इत्य पेरर्थः । 'बिभ्रति' धारयन्ति–कुर्वन्तीति यावत्, मनः–चेत 'सन्देह' इव किमथमन्यथा चेत्युभयकोटी तत्रेत्यनवधारणज्ञानं संशयः, स एवं एकत्रानवस्थितरूपत्वसाधर्म्याद्दोला, तया चलं, यथा दोलारूढं वस्तु तस्यामचलत्वाच्चल, एवं सुदृशामपि मनः । अथवा 'सन्देहेन करणभूतेन दोलावच्चलं येषां नाम जैनानां ते अमी सर्वत्र सम्प्रति प्रस्तुतत्वात् पुरोवर्तिनः । नन्विस्यपक्षमायां । 'सर्वथा' सर्वैः प्रकारैः जिनपथप्रत्यर्थिनो' भगवन्मत-प्रत्यनीकाः, न तु केनापि प्रकारेण तदनुकूला अपि जैनदर्शनोद्दास–तदभिद्रवपेषुरूपा पादनादिना जिनशासनज्ञुपचयहेतुत्वेन यत्सुतस्तेषां तदुच्छेदकत्वात् । यथां चापराधेन श्रवणरक्तविशदे भगवच्छासन लोकोपहासविपर्यासादयो दोषाः प्रादुर्भवन्ति तेऽनन्त संसारिणः सिद्धान्ते प्रतिपादिताः, महापापीयस्त्वात् । 'तत' इत्येतत्पदमग्रिमवृत्तौ सम्बंध्यत इति वृत्तद्वयार्थः ॥ २५ ॥

साम्प्रत कृपणवर्तिनां विषिषय प्रत्येकान्तिकीमात्यन्तिकीं च निरुपमां च मनसो दुष्टतामुपलभ्य तदुत्पाद च इतरजनमनःकारणसामग्र्या असम्भाव्यैः तद्विलक्षणां तदुत्पाद सामग्रीं सम्भावनाद्वारेणाह–

सर्वंकषकटकालकूटपरुषः सर्वैरपुण्योच्चयैः ॥ २६ ॥

व्याख्या–'तत' शब्दस्य प्राक्तनवृत्तस्थस्येह सम्बन्धनेन, यतोऽमी सर्वथा सत्यच दुष्टचेतसः ततः तस्माद्धेतोः, किमित्याह–नूनमिति सम्भावनायां, अहमेवं सम्भा वयामि–यावन्त्यतिदुष्टवस्तूनि जगति सन्ति तावद्भिर्दुर्योगमासेदुषां क्रूरं मानसमकारीति सम्बन्धः, कथमन्यथा स मनसोऽतीव क्रूरता ? इतरजनमनःसाधारणकारणसामग्रीतः तदनुपपत्तेः, कारणानुरूपत्वात्कार्यस्य, न च हि न्यग्रोधबीजाच्छिशुमन्दप्ररोहः । कैस्तैरित्याह–'सर्वैः' सकलैरुत्कटकालकूटपटले–नूतनत्वात्स्युमसयोग्यविविषभेदसमूहैः, पक्वद्भिर्व्यादिभिरुत्कटैश्च कालकूटसकलैस्तत्पटलैर्वा तादृक् क्रूरमनसो जनयितुमशक्य त्वादयुक्त । एवमुत्तरपदेष्वपि योज्य । सकलकालकूटपटलैरेव कवले प्रकृतमनसः कर्तुमशक्यत्वात्–अपुण्योच्चयैरित्यादि वाक्यावतारः,ततश्च सर्वैः–अखिलैरपुण्योच्चयैः पाप राशिभिः, सर्वव्यालकुलैः–अशेषाशीविषसन्दोहैः 'समस्तविधुराधिव्याधिदुष्प्रदैः' दुरन्तम्य सनवेतः पीडा–गद–मरकादि पापप्रदैरेभिरखिलैर्दुष्टैरेकसामग्रीभावेन सम्भूय 'क्रूरं' मर्मस्पर्शकं 'मानसं' चेतः 'अकारि निर्ममे । क्रूररूपस्य मनसो निर्माणे नियेयमत्र, एतेनास्य मनस इतरमनोभिः साधारण्यमपि निरस्तमित्येतदपि सम्भावयामि इतरमनो

विलक्षणसामग्रीजन्यत्वेन वैजात्योपपत्तेः, न हि मृत्पिण्डदण्डादि–तन्तुवेमादिविलक्षणसामग्रीजन्ययोर्घटपटयोः साजात्यं नाम, तथा च तन्मनसः कदाचिदपि न शुभभावतापत्तिः, न हि भूनिम्बस्य–शर्कराभारैः सिञ्चितस्यापि तेनाप्यापादयितुं शक्यते, तत्कस्य हेतोः ? स्वस्वसामग्र्या विजातीयतयैव तयोरुत्पत्तेरिति। अथवा मनः सिद्धमेव तस्य तु क्रूरत्वं विधेयं, तस्य कालकूटादिभिः साम्य। अथास्मिन् पक्षे क्रूरत्वस्यौपाधिकत्वात् अपगमप्रसङ्गे, वस्त्रादिषु महारजनरागस्य तथा दर्शनादिति चेन्न, औपाधिकस्यापि धर्मस्य कयाचित् सामग्र्या जन्यमानस्यानपगमदर्शनात्, यथा पट्टांशुकादिषु नीलीरागस्यौपाधिकस्यापि न कदाचिदपगम इति। तदुपपन्नमेतन्नूनं क्रूरकारि मानसमिति। 'अमु' प्रत्यक्ष 'दुर्मार्गे' कुपथ 'आसेदुषां' अभ्युपेयुषां लिङ्गिनां वञ्चकानां चेति शेषः। ननु भवतु तेषां क्रूरं मनस्तथापि किं न उच्छिन्नमित्यत आह–'चौरायितेन' दुष्टाशयत्वेन 'निन्युषां' उच्छिन्दिषुणां 'जिनपथं' भगवत्प्रणीतं सत्पथं सन्मार्गवर्तिनामुपसर्गकरणेन वस्तुतो जिनमार्गं प्रकटयद्भिर्वेषस्माकं छिन्नमित्यर्थः। अथ जिनपथं नि [न्य]न्यतां तेषां द्विजादीनामिव किं दर्शनान्तरपरिग्रहेण मतान्तरं प्ररूपणा नेत्याह–'वाचा' वचनेन स्वमतिकल्पितमप्यौद्देशिकभोजनादिमार्गं 'एवमः' अयमेव स जिनप्रणीतः पन्था नान्य 'इति' एवं प्रकारेण 'उदुषां' अभिदधुषां, न ते दर्शनान्तरस्थाः स्वमतं परूपयन्ति, तस्यैर्जिनपथवर्तिनो जनस्य प्रतारयितुमशक्यत्वात्, किन्त्वस्मिन्नेव दर्शने वेषमात्रेण स्थिताः स्वप्ररूपितं कुमार्गं जैनमार्गतया वदन्तो मुग्धलोकं व्यामोहयन्तीत्यर्थः, एतावता संरम्भेण सत्पथं प्रत्यतीव प्रत्यनीकत्वं तेषां प्रकटितं। इह च चेत्यत्र 'त' शब्दादिर्जैनीयलोपे सत्यपि समतिपत्तेऽपि "ते यदा पादपूरणे सन्ति" रिति विशेषलक्षणेन सन्धिविधानमिति वृत्तार्थः ॥ २६ ॥

'मत इरप' न्तरा पदद्वयोरप्यनयोर्विद्वयोः सम्बन्धयोजनार्थं, यथाभिमद्दुच स्यादौ योत्स्यते, इदानीं तेषां वचनमात्रमपि विवेकिनः श्रोतुं न युक्तमत इत्याह—मत –

दुर्भेदस्फुरदुग्रकल्मषतमः स्तोमास्तथी भाषुणाः ॥ २७ ॥

व्याख्या—यत एव नामैते जैनपथं प्रति दुष्टाः, अतो–ऽस्माद्धेतोः, किमित्याह तेषां 'वचांसि' कुपथप्रतिपादकानि वचनानि 'कुर्वे' विदधे कर्णौ स्वभवये 'सकर्णः' सश्रोत्रः। अथ च सहृदयः 'कथ' केन प्रकारेण ? न कथञ्चिदित्यर्थः। नहि सकर्णस्य कर्णकटूनि स्पष्टपरमर्माणि वचनानि सतानां श्रोतुं युक्तानि, किन्तु कर्णयोरेतदेव फलं यत्पीयूषवर्षुका अपहसितमधुकाः सतां सूक्तयः श्रूयन्ते। अथ च सकर्णस्य प्रेक्षावतः

कुपथवर्तिनां भाषितानि कर्णे कर्तुं न युज्यन्ते, तच्छ्रवणस्य साधूनामपि मिथ्यात्वनिबन्धत्वेनाभिधानात्। कीदृशामित्याह–'दुर्भेदो' निबिडत्वात्–दुरुच्छेदः' स्फुरत् मनसि सततावस्थिततया जागरूक 'उग्रो' दृढः 'कुग्रहः' चैत्यवासादि प्रतिष्ठापनविषयो मिथ्याऽभिनिवेशः स एव 'तमः स्तोमः' सत्पथदर्शनान्तरायकरत्वादन्धतमसः पटल, तेन 'भस्तं' छन्न 'धीः' प्रेक्षा, सैव सत्पथप्रकाशकत्वात् चक्षुर्लोचनं येषां ते तथा, तेषां, यथा तम स्तोमेन तिरोहितचक्षु पन्थानं न पश्यति तथा तेषामपि धीः कुग्रहेण तिरस्कृतत्वात् न सन्मार्गे सुगयते। तथा 'सिद्धान्तद्विषतां' तद्विपर्यस्तार्थप्ररूपणया तदुच्छेद प्रवृत्तत्वादागमवैरिणां, निरन्तरमहामोहात्–व्यसनातिरेकादविवेकात्। अहमिति निपातोऽस्मदर्थः ततश्च वयमेव श्रेष्ठाः, नास्मत्समः कश्चिदित्यात्मानं मन्यन्ते च ते अहम्मानिनस्तेषां, विवेकिनां हि गम्भीरत्वेन महति गुणगणे सत्यप्यनुत्सेकात्, मूढानां तु तुच्छतया स्तोकेऽपि तस्मिन्–जगतोऽपि गुरुतया मननात्, तथा 'स्वयं' आत्मना 'नष्टाः' सुगतेरपाऽन्तरतम्–मन्याय्ये पथि प्रवर्तमाना जनपुरतः सत्यापयितुमशक्नुवन्तः 'क धर्मः ? क सम्प्रति यतिन' इत्यादि नास्तिक्यं प्रतिपन्नाः तेषां, 'अन्येषां' आत्मव्यतिरिक्तानां 'नाशनकृत' नास्तिकताभावापादननिमित्त 'वद्धोधमानां' यदि हि एतानप्यात्मना रूपमित्यमी कुर्मस्तदा सुन्दरं भवत्यन्यथैते धार्मिकमन्याः पश्यवाग्भिः अस्मान् सन्तक्षिप्यन्तीत्याशयेन तद्भावनाय विहितप्रयत्नानां 'सदा' सर्वदा 'मिथ्याचारा' मुक्तिपथविपरीताः समाचारा मिथ्यात्वा–विरति–प्रमाद–कषाय–दुष्टयोगलक्षणाः, अथवा लोकप्रलम्भनहेतु–कषायेन्द्रियसंयमपुरस्सरं विषयप्रणिहितमनस्कत्वं, यदाह "कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा, मिथ्याचारः स उच्यते ॥ १ ॥" ततश्च 'वहतां' तद्युक्तानां, अतः तद्भाषितानि सुविहितैः मुमुक्षुभिर्न श्रोतव्यानीति तात्पर्यमिति वृत्तार्थः ॥ २७ ॥

अधुना वितथादिरूप धर्मवेषिणामपि तेषां कुपथस्य तथाविध–मुग्धजनोपादेयतां सविषाद प्रतिपादयन्नाह—

यत् किञ्चित् वितथं यदप्यनुचितं यल्लो–० लोकोत्तरो ॥ २८ ॥

व्याख्या—यद्यदिति वीप्सया सर्वसङ्ग्रहमाह–धर्मसाधनमनुष्ठानमिदं धर्मः ततश्च 'धर्म इति' सुकृतमिदमित्येवरूपतया 'ब्रुवन्ति' वदन्ति 'कुधियो' दुर्मेधसो नाम चैत्याः। यत्किमित्याह–यत्किञ्चिदिति, सामान्यतो निर्दिष्ट विशेषतोऽनिर्दिष्टनामक

'वितथं' अलीकं श्रेणिकराजरजोहरणबन्धनादि, न ह्येतदागमे कथंचिल्लिखितमस्ति, येन सत्यं स्यात्, परं लिङ्गिनः स्वच्छन्दतापादनार्थं तदपि धर्म इति भाषन्ते, यदाह–" श्री श्रेणिकः क्षितिपतिः किल सारमेय-लाङ्गूलमूलनिहित पतितप्रबन्धे। भक्त्या रजोहरण मित्यनृतं वदन्ति, ही !!! लिङ्गिनो कुमतया कुधियः प्रलब्धुम्॥ १ ॥ " तथा यदपि, अपिः समुच्चये। यच्चानुचित–मयोग्यं पित्राद्युद्देशेन पात्राकरणादि निमित्त हि धर्मनिमित्तं हि कस्यमात जिनमन्दिरे कर्तुमुचित, नान्यत्। पित्राद्युद्देशेन तु पात्रादि तत्र विधीय मान गुणबहुमानविकलकेवलस्नहनिबन्धनत्वान्न धर्मः, परं तदपि लिङ्गिनो धर्मोऽय मित्यभिधाय स्वोपयोगाय विधापयन्ति। तथा यल्लोके–जैनमार्गबहिर्भूतः शिष्टजनः 'लोकोत्तरो' जिनप्रवचनं, ताभ्यामुत्तीर्णं–बाह्यं मृतकभिक्षाप्रदानादि, एतत् हि लोकलोको त्तरयोर्विरुद्धत्वात् न धर्मस्ते तु गार्धादिहेतुनैतदपि धर्म इत्यभिदधति, यदाह–"भिक्षा मृतकमन्दिरे भगवतां पूजा मलिना क्रिया, हीनानां परमेष्ठि संस्तवविधिर्यच्छिक्षणं दीक्षणम्। जैनेन्द्रप्रतिमाविधापनमहो तल्लोकलोकोत्तर–व्यावृत्तेरथ–हेतुमप्यधिपनाः श्रेयस्तया पच्यते॥ १॥" तथा यच्चकहेतुरेव–संसारकारणमेव 'भविनां' देहिनां जिन मन्दिरे जलक्रीडादि। एतद्धि मदनोद्दीपनत्वात् क्रीडामात्रत्वेनाशातिकत्वाच्च संसारवर्द्धन मेव, परमेतदपि लिङ्गिनो धर्मच्छद्मना स्वायत्तलोकजनकुतूहलेन कारयन्ति। तथा यत् 'स्वाज्ञबाधाकरं' सिद्धान्तविरोधाबाधकम् औद्देशिकभोजनादि, यथा चौद्दिष्टकादीनां बाध बाधितस्य तथा प्राग्प्रेयोत्पादित, अथवा आषाढचतुर्मासकात् पञ्चाशत्तमदिनप्रतिपादितस्य पर्युषणापर्वणः भाद्रपदाचतुर्थ्यामति वर्षेऽस्मीतिवमेऽवि विधान। ननु कुर्वन्तु ते स्वमति कल्पित मार्गं, तथा वितथादित्वमावत्तात न कोऽपि ग्रहीष्यति, तथा चोक्तोऽप्यनुक्त कल्पो लोकोपादानाभावेन प्रसराभावादित्यत आह–' मूढा ' अज्ञानिनः तद्धर्मव्याजेन लिङ्गिप्ररूपित मतं अर्हन्मतभ्रान्त्या जिनमार्गोऽयमिति मिथ्याज्ञाने 'लान्ति' उपपाद्यते। अयमर्थः यथोभयगतचाकचिक्यादि सदृशधर्मोपलम्भात् परस्परव्यावर्तकरेखावास्यादि भेद धर्मानुपलम्भाच्च अरघनेऽपि शुक्तिकायां रजतमेतदिति धिया भ्रान्ताः प्रवर्तन्ते, अत्रापि सन्मार्गासन्मार्गगतजिनदेवताऽभ्युपगमभावाद्यपेक्षादि समानधर्मावगमादन्योन्यव्यवच्छेद कविष्यविधिप्रवृत्त्यादि विशेषधर्मानवगमाच्च वितथत्वादिना वस्तुतोऽनर्हे मतेऽपि प्रकृत मार्गोऽर्हन्मतमेतदिति बुद्ध्या मूढाः प्रवर्तन्त इति, न केवलमते कुमार्गं यद्रन्ति मूढास्तु त गृह्णन्त्यपीति च शब्दार्थः। हा इति खेद 'दुरन्तदुःषमाप्रभावस्य' दुःखावसानान्त्यसमायस्य 'विस्फूर्जितं' विजृम्भितमतदिति, कथमन्यथा कुपथस्याप्यतस्य बहुमुग्धजनोपादेयता स्या दतः कष्टमतत् यद् अद्यापि अयं कुमार्गोऽस्खलितप्रसरोऽनुवर्त्तत इति वृत्तार्थः॥ २८ ॥

साम्प्रतं मुग्धजनान् प्रति स्वमत मोक्षपथतया विक्षतः सत्पथगामिनश्च धार्मिकान् स्ववचनाऽननुरोधित्वेनाद्रवता भवज्ञानानस्य कस्यचिद्यथा छन्दाचार्यग्रामण्योऽप्रस्तुत प्रशंसया स्वरूपमाह—

कष्टं नष्टदिशां नृणां यद्दृशां चास्यन्धवैदेशिकः ॥ २९ ॥

व्याख्या—'कष्टं' तु समस्तत् नः चेतसि वर्तते, यत् किमित्याह, यदिति वाक्योपक्षेपे, चक्षुणामदृशां चास्य चन्धवैदेशिकः कान्तारेऽभीप्सितपुराध्वानं प्रदिशतीति सम्बन्धः। तत्र 'नृणां' पुंसां 'नष्टदृशां' अलोचनत्वारकान्तारपातेन दिग्मूढत्वात् प्रभ्रष्टप्राची प्रतीच्यादिककुपविभागपरिच्छिदानां 'अदृशां' काचकामलादिना दृग्विकलानां, न तु जन्मान्धानां, जन्मान्धो—जन्मप्रभृत्यारभ्य लोचनरहितः। न तु सोऽपि तद्देशस्थाय इतरेभ्यः श्रवणादिना विज्ञाय कथञ्चिदिष्टपुरपथं देशयतीति तत्रोक्त 'वैदेशिक' इति। विदेशे—योजनान्यवहिते देशान्तरे जातो वर्द्धितश्चेति वैदेशिकः। यदि तद्देशस्वरूपमात्रस्याप्य नभिज्ञत्वात्कथं प्रकृतमार्गं जानीयादपि, ततः कर्मधारयः। 'कान्तारे' वनसञ्चार शून्ये दुर्गवर्त्मनि 'प्रदिशति' प्रतिपादयति। 'अभीप्सितपुराध्वान' जिगमिषितः नगरमार्गं, किलेति वार्तायां। 'उत्कन्धरः' ऊर्ध्वग्रीवः कंधरामुन्नमय्य भुजदण्डमुत्क्षिप्य कथयतीति कष्टमेतत्। तुः पुनरर्थे। 'इद' वक्ष्यमाण पुनः 'कष्टतरं' पूर्वस्मादपि कष्टा महत्कष्ट। यत् किमित्याह—'सोऽपि' प्रागुक्तो मार्गदेष्टा 'सुदृशो' निर्मलनयना नव एव 'सन्मार्गगान्' इष्टनगरसुगमपथप्रस्थितान् 'तदिदः' सम्यक् स मार्गज्ञान् यत् हसति, सावज्ञमिति क्रियाविशेषण—अवहेलं 'अज्ञानिव' मार्गानभिज्ञानिव। यथा मार्गानभिज्ञा मार्गमुपदिशन्त उपहस्यन्ते लोकेन, तथैतेऽपि तेन। एवं प्रस्तुतमुपमान योजयित्वा प्रस्तुतमुपमेयमिदानीं योज्यते—कष्टमेतत् यन्नृणां—मत्यर्थेष्वपुरुषाणां 'नष्टदृशां' अतिमुग्धतया सत्पथकुपथविभागानभिज्ञानात् अदृशां—सम्यग्ज्ञानदर्शनविकलानां 'चास्यन्धः' सिद्धान्तरहस्यलेशानभिज्ञः सर्वथा अगीतार्थः। सोऽपि गीतार्थसंवासादेः कथञ्चित् मोक्षपथकथनप्रवीणः स्यात्—तत्राह—'वैदेशिको' गर्हिताचारत्वात् गीतार्थमुनि पुङ्गवसङ्गमाप्रवर्त्तितः। एष चाधुनिककुसङ्घप्रवरो निन्दङ्क्ष निःश्रेयसपथप्रस्थापिमार्ग कथनदीक्षितो यथाछन्दशिरोमणिः कश्चिदाचार्यो मन्तव्यः। 'कान्तारे' भवमहाटव्यां 'प्रदिशति' अभीप्सितपुराध्वानं—मुक्तिमार्गं 'उत्कन्धरो' दर्शिताहङ्कार विकारः। तथा च सोऽगीतार्थ उत्सूत्रभाषको मिथ्यादृष्टिः कथञ्चिदपि 'सत्पथ' मोक्षमार्गं न वेत्ति, नाप्यन्येन गीतार्थेन प्रतिपादितोऽपि प्रत्येति, इति कष्टं,

एतस्मादपरं 'तु' इति पूर्ववत् । सोऽपि प्रागभिहितो यथाच्छन्दाचार्यः 'सुदृशः' सम्य ग्ज्ञानदर्शनयुक्तः 'सन्मार्गभाजः' ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणमुक्तिपथप्रपन्नान् 'तद्विदो' मुक्तिमार्गाभिज्ञान् धार्मिकान् सुविहितसाधून् पश्यति सापत्नजनानिव, यथा-किममी मपीतार्था मूर्खशिरोमणयः सिद्धान्तरहस्यं जानन्ति ?, अहमेव सकलश्रुतपारावारपार दृश्वा, ततो यमहं ब्रवीमि स मुक्तिमार्ग इति । किमित्येवमुपदर्शतीत्यत आह-व महा कष्टमित्युपमानोपमेययोस्तुल्यतया योजना । अत्र च मुग्धजनपुरतो निरङ्कुशं स्वकल्पितं चैत्यवासादिकमुत्सूत्रपथं प्रथयन् विधिविषयपारतन्त्र्यप्ररूपणनिपुणान् सुगुरुसम्प्रदाय वर्तिनः सुविहितानऽसूययोपहसन् सम्प्रति वर्तमानः कुसङ्घाचार्यवर्गोऽनया भङ्ग्या कविना प्रतिपादित इति वृत्तार्थः ॥ २९ ॥

साम्प्रत श्रुत-पथा-भङ्गा-द्वारमुपसञ्जिहीर्षुः सुदृग्जिनमार्गस्य दुष्टोपचितसमुदित कारणकलापेन सम्प्रति दुर्लभत्व प्रतिपादयन्नाह—

सैषा हुण्डावसर्पिण्यनुसमयमुदसद्भव्यभावानुभावा, ॥ ३० ॥

व्याख्या—या आगम-प्रवेद्यागामितया लिखिताऽऽकर्ण्यते, सा एषा सम्प्रति प्रत्यक्षा, कालस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि तद्भवकार्याणां प्रत्यक्षेणोपलम्भेनोपचारादेवमुक्तं । 'अवसर्पन्ति' प्रतिक्षणमायुः शरीरप्रमाणादयो भावा हानिं गच्छन्ति प्राणिनामस्या मित्यवसर्पिणी सिद्धान्तप्रसिद्धः कालविशेषः, हुण्डं-सकलाङ्गोपाङ्गानां यथोक्तमान वैकल्यहेतुः षष्ठं संस्थानं, तेनोपलक्षिताऽवसर्पिणी हुण्डावसर्पिणी, व्युत्पत्तिमात्रं चेदं, तस्यतस्त्वनन्ततम-कालभाव्यसंयतपूजानिव चनं चैत्यवासमुत्सादहेतुः शुभभावहानिकारणं कालभेदो हुण्डावसर्पिणी, सा च भगवति मोक्ष-गते जातेति । 'समयः-परमसूक्ष्मः कालः, ततश्चानुसमय-प्रतिक्षणं 'भव्यानां' मुक्तिगामिनां, अथवा 'भव्याः' शुभा 'भावाः' परिणामा 'अनुभावाश्च' प्रभावा भक्ति-निश्चया वा, ततश्च 'उदसन्तो' हीय माना भव्यभावानुभावा यस्यां सा तथा । हुण्डावसर्पिण्यां हि कालस्वाभाव्यात् धर्मार्थि नामपि प्रायेण भावा यादृशा वर्धमान धर्मे न तादृशाः धर्मान्तरे इत्यादि क्रमेण प्रति क्षणं सङ्क्लेशतारतम्यात्मातक्षयोपशमायमाना उपलभ्यन्ते, तथा च प्रकरणकारेणैव प्रकर णान्तरे प्रदर्शित-" कालस्स अइकिलिट्ठत्तणेण अइखेसिपुरिस-विरहेण । पायमणुगमत्तेण य, गुरुकम्मत्तेण य जियाण ॥ १ ॥ किर मुणियजिणमयाणवि हु, संमीकयसरिसधम्म-मग्गाण । पायमइसंकिलिट्ठा, धम्मत्थी विरय दीसंति ॥२॥" अत्र च प्रतदित्यनन संयोग परत्वेऽपि पूर्ववर्णस्य न गुरुत्व, छन्दः शास्त्रेऽर्धचरित[क्वा]नुरपया कथितत्वविशेषात् ।

तथा 'त्रिंशः' जैनसिद्धान्तोक्ताष्टाशीतिग्रह-मध्यात्त्रिंशत्तमः पूरणः, चः समुच्चये, उग्रग्रहो-जिनप्रवचनस्योदग्रोपसर्गकारित्वात्-दारुणो ग्रहः, अथ-मेष प्रत्यक्षोपलभ्यमानकार्यो भस्मराशिनामा, खं-आकाशं, तस्य च शून्यत्वात्खमिति गणितव्यवहारे शून्यस्य-बिन्दोः संज्ञा, नखा इति च विंशतेः संज्ञा, नखानां विंशतिसङ्ख्यत्वात्, ततश्च खं च खं च नखाश्चेति द्वन्द्वः, तैः पश्चानुपूर्व्या अङ्करचनया स्थापितैः मितानि-परिसङ्ख्यातानि 'वर्षाणि' संवत्सराः 'स्थितिः' एकस्मिन् राश्याव[व]स्थानं यस्य स तथा, एकराशौ वर्षसहस्रद्वयस्थितिक इत्यर्थः(२०००)। सोऽपि ग्रहो भगवन्निर्वाणकालानन्तरं वर्षसहस्रद्वयं यावत् क्रूरत्वात्-भगवज्जन्मराशौ सङ्क्रान्तत्वात्-भगवन्तं च मुक्तत्वेन दुःखीकर्तुमशक्तत्वात्-तत्प्रवर्तितस्यैव प्रवचनस्य बाधां करिष्यति। तथा 'अन्त्यं' दशमं, चः समुच्चये। 'आश्चर्यं' अनन्ततम-कालभावित्वादद्भुतम्-असंयतपूजाख्यं 'एतत्' इदानीं प्रत्यक्षं 'जिनमतहतये' आर्हतप्रवचनापभ्राजनापादनाय 'तत्समाः' तैः प्रागुक्तैस्त्रिभिः 'समा' तुल्यबला 'दुष्षमा' दुष्टा-लोकदुःखकारिण्यः 'समाः' वर्षाणि यस्यां सा तथा, कालचक्रस्य षडरकस्य पञ्चमोऽरकः, यथा प्राक्तनास्त्रयः समुदिता जिनमतं घ्नन्ति तथा चतुर्थी दुष्षमाऽपि। चः पूर्ववत्। इति प्रकरणे। 'एषु' प्रकटेषु हुण्डावसर्पिण्यादिषु 'एव' दर्शितप्रकारेण प्रतिपदं सुविहितलाघवासंयतगौरवापादनलक्षणदुष्टकार्यदर्शनाद्दृष्टेष्विव 'दुष्टेषु' क्रूरेषु 'पुष्टेषु' प्रकर्षकोटिं प्राप्तेषु हुण्डावसर्पिण्यादिषु चतुर्षु 'सत्सु' प्रतिसमय 'अधुना' साम्प्रतं 'दुर्लभो' दुरापो जैनमार्गः, प्रतिपत्तिविघ्नकारिणां हुण्डावसर्पिण्यादीनां दुष्टत्वात् महिम्ना च भूयोलोकस्य अनभिनन्दित्वात्कतिपयसात्त्विकजनोपादेय इति यावत् 'जैनमार्गः' अविमोहोरूप-भगवत्पथ इति हृदयार्थः ॥ १० ॥

एवं तावदष्टादशभिर्वृत्तैः प्रपञ्चेन लिङ्गिनां श्रुतपथबाधा प्रतिपादिता, सम्प्रति तैरेव धर्मतया प्रतिपादितं गुणिद्वेषधीरिति द्वारं निराकुर्वंस्तेषां गुणिद्वेषं दर्शयन्नाह—

सम्यग् मार्गजुषः प्रशान्तवपुषः प्रीतोल्लसच्चक्षुषः ॥ ११ ॥

व्याख्या—खलाः मत्सरिणः न क्षाम्यन्तीति सम्बन्धः। तत्र 'खलाः' दुष्टाः मत्सरिणः प्रकरणाल्लिङ्गिनः। कृतदुष इति दुषधातुः क्विबन्तोऽत्र दोषपर्यायः। ततश्च 'कृता' विहिता 'दुषो' दोषाः-स्वयमनेकेऽनर्था यैस्ते तथा, तत्स्वभावत्वात् तेषां अथवा 'कृता' आरोपिता 'दुषो' दोषा यैस्ते तथा, निर्मलेष्वपि सद्गुणिगुणेषु लोकमध्ये लाघवापादनाय स्वधिया विहितदोषारोपा इत्यर्थः। गुणवत्सु परोपकारो पणस्य तेषां कुलव्रतत्वात्। 'उद्यत् दुषः' भिन्नभिन्नं सुविहितदर्शनमात्रेणैव प्रकटित

ललाटतटभ्रकुट्यादि कोपविकाराः 'न क्षाम्यन्ति' न सहन्ते, द्विषन्तीत्यर्थः। तत्र देशेऽमीषां प्रचारेण मम लोकस्यागौरव्या भविष्याम इत्यादि बुद्ध्या मात्सर्यावष्टब्धस्वान्तमेव तेषां न ददतीत्यर्थः। सुविहित यतीन् सरमात्सुत्वमेवानुगुणविशेषणैस्तेषां भावयति- 'सम्यग्मार्गपुषः' भगवत्प्रणीतज्ञानादित्रयरूपमोक्षपथस्य भव्यानां शुद्धोपदेशप्रति बोधद्वारेण विस्तारकाः। एतेन तेषामुत्सूत्रभाषणप्रतिषेधमाह। 'प्रशान्तवपुषः' बहिर लक्षितरागादि विकारशरीरासाः, एतेनान्तरपि प्रबलरागाद्यभाव प्रकाशयति, अन्तस्त-त्त्वापे बहिः सर्वदा प्रशान्तत्वानुपपत्तेः। 'प्रीतोल्लसद्भुषः' द्विषतानपि प्रतीत्य प्रसन्नो-त्फुल्ललोचनाः, एतन बहिः कोपविकारपरिहारमाविष्करोति। 'श्रामण्यर्द्धि' प्राणाति पातविरमणादिपञ्चमहाव्रतविभूतिमुपेयुषः-आसेदुषः, एतेन दीक्षामूलं सर्वविरतिसम्पदं दर्शयति। 'स्मयमुषः' अहङ्कारतिरस्कारिणः, एतेन वाग्मित्वविद्वत्त्वादावभिमान हेतौ सत्यपि तदभाव प्रकटयति। 'कन्दर्पकश्रप्लुषः' मन्मथधुक्कदुवदाहिनः, एतन सर्वव्रतमध्ये निरपवादब्रह्मव्रतदाढर्यं द्योतयति। 'सिद्धान्ताध्वनि' सुद्धागममार्गे 'तरपुषः' स्यिरतवन्तस्तरपरानित्यर्थः, एतन स्वपक्षसूत्रक्रियानिषेध प्रतिपादयति। 'क्षमजुषः' क्षमामाजः, एतेनान्तरपि कोपनिरासं ज्ञापयति। 'मत्पूज्यता' विवेकी जनसेव्यता 'जगुषः' प्राप्नुषः, एतेन सकलश्रमणगुणगणसम्पत्तिमाविर्भावयति, निर्गुणानां विवेकिलोकपूजनासम्भवात्। 'विदुषः' विचक्षणान्, एतेन स्वसमयपर समयसार विदुरतां विस्तारयन्ति। न चैव गुणशालिषु यतिषु द्वेषः कर्तुं युक्तः, अमीषमोऽपि तद्वतस्य सकलगुणिगतगुणद्वेषरूपत्वेनानन्तभवभ्रमणनिबन्धनत्वात्, सिद्धान्तेऽप्यभिहित "भरहेरवयविदेह, पनरस वि कम्मभूमिया साहू। एक्कम्मि हीलियम्मी, सव्व ते हीलिया हुति ॥ १ ॥ संतगुणछायणा खलु, परपरिवाओ य होइ अलियं च। धम्मे य अवमाणो, साहुपओस य संसारो ॥ २ ॥" ततः प्रेक्षावता गुणिषु बहुमान एव कर्त्तव्यो, न द्वेष, इति वृत्तार्थः ॥ ११ ॥

अथ कथमेवं विधानपि सत्साधून् खला न क्षाम्यन्ति? मिथ्यात्वप्राबल्या दिति ब्रूमः, अत एव तद्वतो मूढजनस्य नामजैनपथदर्शिनः स्वरूपं निरूपयन्नाह—

देवीयदुत्सरोचितः जनमहामोहा न दर्शयति ॥ १२ ॥

व्याख्या—अहो! मिथ्यात्वग्रहिलो जन उरुदोषिणो दर्शयतीत्यादि सम्बन्धः। 'अहो' इति विस्मय, ग्रह मेतमोऽपवनिषधः, सोऽस्यास्तीति, अस्त्यर्थे इलुप्रत्ययः तद्धितः। इह मिथ्यात्वं प्रकरणादाभिनिवेशिकं गृह्यते, प्रायेण जैनमिथ्यादृष्टीनां "गोट्ठामाहिल

मारब्धे" इत्यादिनाऽभिनिवेशिकस्यैव तस्य प्रतिपादनात्। ततश्च तेन 'ग्रहिलः' प्रबलमिथ्याऽभिनिवेशग्रहगृहीत इत्यर्थः। 'अन्नो' धर्मध्यमि-मक्कधाद्दलोका, उत्तमो-महान्तो यतिजनस्तस्यात्यर्थमनुचितत्वेन 'दोषा' अपराधा रागद्वेषप्राणातिपातादय उरुदोषाः तद्वत् आचार्यादीनिति गम्यं। 'देवीयति' देवानिव-जिनानिवाचरति, यादृशा देवा नीरागा अतिशयादि मन्तश्च तादृशा अमी, तस्मादाराध्या इति देवैः तानु पमिमीते, न च तादृशां तेषां तदुपमानं समीचीनं, तेषां महादोषवत्त्वेन देवोपमान विधानस्य महापातकहेतुत्वात् परं मिथ्यात्वस्य विपर्यासरूपत्वात् विपरीतबुद्धिः तादृशा नपि तथोपमिनोति, एवमुत्तरपदेष्वपि भावनीयं। 'सतमहादोषान्' प्रकटप्रागुक्तमहद् पराधात् गुणप्रधानादीनिति शेषः। 'अदेवीयति' अदेवानिवाचरति, नामी देव सदृशाः, सदोषत्वात्-निरतिशयत्वाच्च, तस्मादनाराध्या इति। अत्र च क्षीणप्रायदोषाणां देवोपमानं सिद्धान्तेऽप्युदितं-" पडिरूवो तेयस्सी " इत्याद्याचार्यगुणवक्तव्यतायां 'प्रतिरूपः' विशान्त तात्पर्यपरिच्छेददक्षनाऽतिशयवत्त्वादिना तद्विषयबुद्धिजनकत्वात्तीर्थ करप्रतिबिम्बरूप इति व्याख्यानात्, स च विपर्यस्त-मतित्वात्तथा न करोति। एवमदेव प्राये देवबुद्धिर्देवप्राये चादेवबुद्धिरिति मिथ्यात्वस्वरूपं प्रतिपाद्य-गुरौ गुरुबुद्ध्यादिरूप तदाह-'सर्वज्ञीयति' सर्वज्ञमिव-सर्वविदमिवाचरति 'मूर्खमुख्यनिवहं' मन्दबुद्धीनामपि समूहं स्वाम्युपगच्छत्यिव यतिजनं, यथा-सर्वज्ञसदृशोऽयं मदीयो यतिजनः किं किं ज्ञातव्यं न वेत्तीति। 'तज्ञम्' षड्दर्शनतर्ककर्कशधियं स्वपरसमयनिर्णयभूमिं सूरि विदं 'मज्ञीयति' अज्ञमिव-बालिशमिवाचरति, यथा-न किञ्चिदप्ययं जानाति। अयमर्थः-न हि मूर्खशिरोमणेः सर्वज्ञेनोपमानं युक्तं नापि तत्त्वज्ञस्याज्ञेन, अत्यन्तमननु रूपत्वात्, परं स मिथ्याज्ञानात् एवमपि करोति। अधुना अमार्गे मार्गबुद्ध्यादिरूपं मिथ्यात्वं दर्शयति-' उन्मार्गीयति ' उन्मार्गमिव-उत्पथमिवाचरति। 'जैनमार्गं' शुद्ध मार्गत्वं, यथा-नायं भगवत्प्रणीतो मार्गः किन्तु अन्य इति।' अपथं ' कुमार्गं मायाप्रति चारितमौद्देशिकभोजनादिकं स्वकल्पितं 'सम्यक् पथियति' सम्यक् पथमिव-सन्मार्गमिव-सन्मार्गमिवाचरति। अत्रापि यत्-जिनमार्गस्य चन्द्रमत्प्रकाशरूपो मार्गेण-[तामसेन] नाम जैनेन साधर्म्यापादनं मार्गस्य ■ सत्पथतुल्यतापादनं तन्मिथ्यात्वोदयादिति। तथा 'स्व' आत्मानं 'अगुणाग्र्यं' निर्गुणधुर्यं 'कृतार्थीयति' कृतार्थमिव-निष्ठित मनोरथमिवाचरति। अत्रापि स्वस्य निर्गुणमुख्यस्य 'कृतार्थेन' गुणनिष्पन्ना पमानमविचारकत्वादिति। एवं तावज्ज्ञानातिरिक्तमनविषय मिथ्यात्वस्य सन्द च साध लोकविषयमपि प्रसङ्गात् किञ्चित्-दर्शयन्-' मिथ्यात्वग्रहिला जन ' आदिपदेनादि

मिथ्यात्वात्–जैनमतबहिर्भूतो लोकः ‘ द्वीयति ’ दवानिवाचरति, मुक्त्यर्थमाराध्यतया देवत्वेनाभ्युपै[ती]ति यावत् । तथ्वोपिमो–रागादिमतो लोकप्रतीतान् हरिहरादीन्, च महाबोधान् वीतरागान् लोकोत्तरविभुतान् अदेवीयति–अनाराध्यत्वेनानुमन्यते । अथ कथ मु–एतन्मिथ्यात्वमिति चेत् ? उच्यते–अतस्मिन्–तदिति प्रत्ययस्यैवतल्लक्षणत्वात्, तस्मान् न रागादिमन्तो देवाः । तथा सर्वज्ञीयति–सर्वविदयमित्यभिमन्यते मूर्खमुख्यनिकरं–अन्यपरतीर्थिकसमूहं प्राणातिपातादिनिरतं । तथा तत्त्वज्ञ–समस्तशास्त्ररहस्यवेदिनं पञ्च महाव्रतधारिणं सर्वज्ञप्रायं युगप्रधानसूरिं ‘ मज्ञीयति ’ मूर्खीयति । एवं च तत्त्वज्ञे गुरावज्ञ त्वारोपो मिथ्यात्व–विजृम्भित, एतावता चागुरौ गुरुभावना गुरौ चागुरुधीरिति मिथ्या त्व लक्षित । उ मार्गीयति–उत्पथत्वेन मन्यते जैनमार्गं, अपथ–कुतीर्थिकमतं सम्यक्त्व मीयति सन् मार्गीयति तदा स्वमगुणाग्रण्यमित्यादि तु पूर्ववत् । तदामर्षम्–एतन्मि थ्यात्वोपहता यदेव विपर्ययेण सर्वमवसाय गुणिनो क्षिपन्तीति हृदयार्थः ॥ १२ ॥

ननु किमिदानीं गुणिभिः प्रयोजनं ? सङ्घ एव भगवान्–निक्षेपदोषमोक्षमः समाश्रीयतां, भगवताऽपि च तस्य महत्त्वेन नमस्कृतत्वात् तथा च तदाज्ञया वर्तमा नानां मोक्षः प्राणिनां सम्पत्स्यत इत्याशङ्क्या–श्रुतासनसङ्घपक्षवर्तिनो भव्यजनस्यात्रैव पूर्वं मोक्षाभावमुपदिदर्शयिषुराह—

सङ्घव्याकृतचैत्यकूटपतितस्यान्तस्तरां ताम्यत ॥ १३ ॥

व्याख्या—‘ जन्तवो ’ धर्मार्थिनो भव्यजन्तवः त एवावलत्वात्–मुग्धत्वात् सत्त्व रहितत्वात्–च ‘ हरिणा ’ मृगाः तद्व्रातस्य–तत्समुदायस्य–उत्पथप्रवृत्त–उत्सूत्रभाषकः श्रुतज्ञाननिरपेक्षः स्वच्छन्दचारी स्वादलोलुपः साधु–साध्वी–श्रावक–श्राविकासमवायो भूयानिह सङ्घ उच्यते, स एव बलिष्ठत्वात् क्रूरत्वाच्च ‘ व्याघ्रः ’ शार्दूलस्तद्वशस्य–तदधीन स्य–दासवत्–पञ्च तत्र नियोज्यस्येति यावत् । द्वितीयपक्षे ग्रासविषयीभूतस्य ‘ मोक्ष ’ इति श्लिष्टपद, तेन जन्तुपक्षे ‘ मोक्षो ’ निर्वाणं, हरिणपक्षे च छुटनं व्याघ्रात्पलायनमिति यावत् । ‘ कुतः ’ कः स्यात् ? न कथञ्चिदित्यर्थः । ननु सुकरपञ्जुगुप्ता–जुगुप्सा–भावापन्नस्य मोक्षाभावः, किमायातं ? सङ्घस्येत्यत आह–‘ मुक्त्ये ’ निःश्रेयसार्थं ‘ कल्पितदानशील तपसोऽपि ’ स्वबुद्ध्याविहित जिनादिवितरण देवपारिश्रानयनादेरप्यास्तां तदितरस्येत्यपि शब्दार्थः । कथं तर्हि मोक्षाभाव ? इत्यत आह–‘ सङ्घाय ’ लिङ्गिसमुदायाय ‘ देयानि ’ कृतानि । द्वयेत्रापेति श्रा तद्धितः । ततश्च ‘ सङ्घाकृतानि ’ श्रावकलोकेन मक्त्या स्वद्र व्येण निर्माप्य लिङ्गिभ्यः सत्–देवनयैव चासायत्वं समर्पणेन तदायत्तीकृतानि ‘चैत्यानि’

भ्रिनायतनानि, तान्येव ' कूटा ' हरिणबन्धनयंत्रविशेषाः । अथ कूटस्य बन्धहेतुरमि धीयते, मोचनहेतु-बन्धनहेत्वोर्महद्वैषम्यं, तथा च सिद्धान्तविधिना लिङ्गिनां निश्रा निवासविरहेण श्राद्धैर्यानि चैत्यानि विधाप्यन्ते तानि संसारगुप्तिमोचननिबन्धनानि भवन्ति, एतानि प्रकृतचैत्यानि मुग्धान् मोत्साह स्वनिवासाश्रय कथम्-आमन्मामी श्राद्धा अस्माकं भोग्या भविष्यन्तीत्याशयेन तेषां तत्र ममकारोत्पादनेन नियमाचार्यं लिङ्गिभिः कारितानि, तत्कथमेतेषां मोचनहेतुत्वं ? प्रत्युत बन्धननिबन्धनत्वमेव । एवं चैत्यानां कूटैरत्यन्तं बन्धहेतुसाम्यना-भेदविवक्षणायुक्त उपमानोपमेयभाव इति । तत्तत्राकृतचैत्य कूटेषु ' पतितस्य ' प्रविष्टस्य कथञ्चित् सत्पथ प्रतिपत्तारपि तत्र गोष्ठिकत्वादिना स्व कारितप्रतिमा ममत्वादिना वा नियमितत्वात् ततो निर्गन्तुमशक्तस्तावत् यावत् । द्वितीय पक्षे ' पतितस्य ' बद्धस्य । तथा ' अन्तस्तरां ताम्यतः ' सन्मार्गबहुमानित्वात्ततो निर्जि गमिषोरपि निर्गमालाभात् भविता कदाचित्स दिन यत्रैतस्मात् अनल्पयादह निर्गमिष्यामि इत्येवं तरामतिक्षयेनान्तःकरणमध्ये ' ताम्यतः ' खिद्यमानस्य, कुत ? इत्यत आह- तन्स्कन्देन सह परासूयते, तस्य-सहस्य ' मुद्रा ' चतुर्दशपादिकाः पर्वतियया, एतदा चार्यसंवादेन तपोनियमादिकृत्ये प्रमाणीकर्तव्या, नान्यथेत्येवमादिका व्यवस्था, ततः घोरैर्मुद्रा प्रवर्तिता, वराकान् मुग्धमारङ्गान् हा ! धर्तु वागुरा इव । ततश्च तन्मुद्रैव ' दृढं ' निबिड ' पाशो ' मृगादिबन्धनार्थं दवरकादिनिर्मितग्रन्थिविशेषः तेन ' बन्धनं ' संयमन, तद्वत-स्वदन्त्रितस्य । सति तद्वत्मुद्रामुद्रितः ततो निर्गमनवार्तामपि कस्यापि पुरतो वक्तुं न शक्नोति, किम्पुनर्निर्गन्तुमित्यर्थः । तथा एतस्य-श्राद्धस्य क्रम-स्वाभिदिष्टा रथिरत्नात्रमिदिका परिपाटी, तस्त्वापिन-स्वदर्शिनः । द्वितीयपक्षे तु हरिणमहाराये-वृत्तिवत्स्य छन्नितः पादः क्रम तद्गोपरगतस्यति । ततोऽयमर्थः -यथा व्याघ्रग्रासविषय स्य यन् क्रममोचरस्य, तत्रापि कूटपतितस्य, अन्यथा हि पलायपावि कथञ्चित्ततो मोक्षः सम्भवति । तत्रापि निर्जिगमिषया चेतसि ताम्यतो पाशसंयमितत्वेनाङ्गस्पन्दनमात्रमपि कर्तुमशक्तस्य हरिणशावस्य न कथञ्चित्ततो मोक्षः सम्भवति, एवमस्यापि चैत्यप्रति बद्धस्य सन्मार्गस्पृहया निर्गन्तुं मनसि खिद्यमानस्यापि तद्वत्मुद्रया कीलितत्वेन भयपया म्युपगमं प्रति उपन्तुमप्यशक्नुवतः तत्क्रममनतिक्रामतः सम्प्रतिजन महाचावस्थस्य अन्तु सन्दोहस्य न निर्वाण सम्प्राप्त इति । अथ कथमिह श्राद्धस्य क्रूरतया व्याघ्रेमोपमानं ? अत एव गुरुदीलताऽनुरागात् श्राद्धमपि महत् इत्यभिदधतां प्रायश्चित्त प्रतिपादित सिद्धान्ते । यदाह-' असंय संय अ, मणसि रागेण महए दोसेण । छेओ वा मूलं वा,

पच्छित्तं जायए तेसिं ॥ १ ॥" तस्मादुक्तस्वरूपया प्रकृतसङ्घस्य व्यापकतया[नि]रूपणं, तथा च सिद्धः तल्लक्षणस्य प्राणिगणस्य मोक्षाभाव इति । नन्वेवं तर्हि सिद्धान्तोक्तलक्षणस्य सङ्घस्य सम्प्रत्यभावात् भवन्मते तीर्थोच्छेदः प्रसज्यत इति चेन्न, यदुक्तमागमे—"निम्मल नाणपहाणो, दंसणजुत्तो चरित्तगुणवन्तो । तित्थयराणाभिज्ञो, वुच्चइ एयारिसो संघो ॥१॥ आगमभणियं जो, पण्णवेइ सद्दहइ कुणइ जहसत्ति । तेलुक्कवंदणिज्जो, दूसमकाले वि सो संघो ॥ २ ॥" अन्यथा "दुप्पसहंत चरणं" इत्यादेरादुःषमान्त चारित्रानुवृत्तिप्रतिपादकस्य भगवद्वचनस्य व्याघातापत्तेः, भावसङ्घमन्तरेण तावन्तमनेहसं चारित्रानुवृत्तेरसम्भवात् । ननु भवतु सिद्धान्तप्रामाण्यात्–इदानीमपि भावसङ्घोऽस्तीत्यास्थयापि यथा तावन्न दृश्यत इति चेत् ? अर्वाग्दर्शितरत्वेन मात्सर्येण वा भवतः तददर्शनस्या–न्यथा सिद्धत्वात्, दृश्यते च कषायकलुषितचक्षुषां सन्निकर्षेऽपि निषेदुषो मनुष्यादेरनुपलम्भः, ततो यदि त्वं शुद्धपक्षस्पृहयालुस्तदा मात्सर्यपरिहारेण माध्यस्थ्यमास्थाय सूक्ष्मप्रेक्षया परीक्षस्व भावसङ्घं, येन कथञ्चित्प्रेक्षसे, नैवमेव नास्तिकतामवलम्ब्य भवाम्भोधौ मङ्क्षीरिति । तस्मात् भगवद्वचनान्यथाऽनुपपत्त्या सम्प्रत्यप्यस्ति भावसङ्घः, स एव च प्रेक्षावता दुस्सङ्गत्वा परिहारेणाभ्युपेतव्य इति वृत्तार्थः ॥ २१ ॥

तदेवमौद्देशिकभोजनादि द्वादशकेन त्रिभिः प्रज्ञापितस्य चैत्यस्योत्सूत्रप्रकाशनेन महतां चेतसि कोपाविर्भावं सम्भावयंस्तत्रापि तथ्यदर्शनप्रयोजनमाविर्भावयिषुराह—

इत्थं मिथ्यापथकथनया तथ्ययाऽपीह कश्चित् ॥ २४ ॥

व्याख्या—'इत्थं' प्राक्प्रतिपादितप्रकारेण 'मिथ्यापथकथनया' चैत्यवासि प्ररूपितोत्सूत्रमार्गप्रकटनया करणभूतया 'तथ्ययाऽपि' यथार्थयाऽपि, असत्यया हि तया कोपोत्पादनादपि कस्यापि सम्भाव्यते इत्यपि शब्दार्थः । 'इह' लोके प्रवचने वा 'कश्चित्' जिनशासनस्थो मा शासीत्, यदिदं मिथ्यापथकथनप्रक्रमे 'अनुचितं' असङ्गतं, यदि हीदं रागद्वेषाभ्यामतथ्यं विधीयेत तदाऽनौचित्यं स्यात्—न चैवमस्ति। यथो इत्यानन्तर्येऽप्यर्थे । तदनानुचितज्ञानानन्तरं 'मा कुपत्' मा कुप्यतु 'कोऽपि' कश्चित्। यदि ह्येतदनुचितं स्यात्तदा तज्ज्ञानानन्तरं कोपोऽपि कथञ्चित् युज्येत, न चैवं, तस्मान्न कोपनीयं । अथ यद्यत्र मिथ्यापथकथनेन परेषां कोपाविर्भावशङ्का तदाऽसौ न कथनीय एव, परसङ्क्लेशहेतोः सत्यस्यापि वचनस्यावक्तव्यत्वेनाभिधानात् । यस्मात् हेतोर्जैन भ्रान्त्या साधुसाध्वी श्रावकश्राविका चैत्यवासाचारदर्शनात् आर्हतमेतत्प्रवचनमिति मिथ्या ज्ञानेन, नहि लिङ्गमात्रेण तत्र आर्हताः, उक्तन्यायेन तेषां तथा स्वरूपाकरणात् ।

तथा–एतेऽपि जडाः कुवासनावासितान्तःकरणा वस्तुतोऽनार्हतम् अप्येतच्छिङ्गि धर्मोर्हत मिति विपर्यस्यन्तीति क्षेत्रभ्रान्तितया ' कुपथपतितान् ' कुमार्गप्रस्थितान् 'नृन्' मानवान् 'प्रेक्ष्य' अवलोक्य 'तत्प्रमोहापोहाय' कुपथपतितनर–प्रागुक्तप्रबल–मिथ्याज्ञानोपनोदाय ' इदं ' एतच्छिङ्गिनां मिथ्यापथस्वरूपं ' किमपि ' दिङ्मात्रं ' कृपया ' कथममी मूढाः तीर्थ्याभासकदर्थिताः कुपथस्वरूपं विज्ञाय तत्परिहारेण सत्पथमभ्युपेत्य भवोदधिं तरि ष्यन्तीत्यनुकम्पया ' कथितं ' भव्यं प्रतिपिपादयिषया सकलं सङ्घलक्षणं प्रथमं चेतसि प्रतिष्ठितं, ततो ' कथितं ' अक्षररचनया दृब्धं, तदन्तरेण परस्य पुरतः सम्यक्प्रतिपादयितुं दुःशकत्वात् । चः समुच्चये । अतः कुपथपङ्कनिमज्जन–नरनिकरोद्धरणाय मया किञ्चित् चरितमिदमिति सम्बन्धः भगवता प्रकरणकारेणेति वृत्तार्थः ॥ २४ ॥

अथ कथमिति दिङ्मात्रमेवाभिहितं ? यावता निःशेषदोषप्रकाशनेन हि मिथ्या पथः सुज्ञानः सुत्यजश्च भवतीत्याशङ्क्य तन्निराकरणोपक्षेपकेन ' यत ' इति पदेनान्तरापूर्वं तद्दोषाणामानन्त्येनाभिधानाशक्यत्वं निदर्शनयाथि भावयन्नाह—यतः–

प्रोद्भूतेऽनन्तकालात्कलिमलनिलये नाम नैपथ्यतोऽर्हन् ॥ १५ ॥

व्याख्या—' यत ' इति यस्माद्धेतोरस्मिन् दुरन्तेऽनन्तकालात्प्रोद्भूते यो दोष सहस्रं विवृदेदित्यादिसम्बन्धः । तत्र ' प्रोद्भूते ' प्रजाते ' अनन्तकालात् ' अनन्ते नानेहसा, अनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणी परिवर्तनेनास्य कुमार्गस्याश्चर्यदशकान्तःपातित्वेन सिद्धान्ते प्रादुर्भावप्रतिपादनात् । 'कलिमलनिलये' दुष्षमापापकनिवासे, दुष्षमाकालो हि अपरकलापक्षया महापापः, तत्प्रभावादीनामसङ्ख्यप्रवृत्तिदर्शनात् सम्भाव्यत–तत्कर्म दुष्षमाकलुदुरन्तेऽस्मिन्–निवसति, अथवा 'कलिरेव' कलह एव 'मलं' किट्टं, तस्य निलये । तथा ' नाम ' अभिधानं, यथा लिङ्गदर्शनेऽपि लोका वक्तारो–भवन्ति–अमी श्वेता अमी सि(शे)ताम्बरभिक्षव इत्यादि, नपथ्य–रजोहरणादिवेषः, ततो द्वन्द्वः । ततश्च नाम नैपथ्यतः–सुविहितसाधारणात् नामश्रवणात् नैपथ्यदर्शनाच्चाद भाग भ्रान्ति–वारिक जिनपथसारस्य 'दर्शनेऽपि' विमार्गे, अन्यथैव यथाः तर्हि जिनमार्ग एव भविष्यतीत्यथ माह–अथ येति प्रतिकूलपथा वर्त्तमानमण्डपम् ' तस्करः ' परमार्थतः ' तदभिमरे ' अर्हं मार्गघातुक, अथमर्थः–यथा अभिमराः ' प्रच्छन्नघातुकाः स्ववेषेण राजादिघातं कर्तुमशक्नुवन्तो वस्त्रपरावर्तेन राजादिकं व्यापादयन्ति, तथैतेऽपि गृहस्थवेषमाद मार्गो च्छेद तथाविधाद्युपायप्राप्तो यतिवेषेण विरुद्धप्ररूपणचैत्यवासादिभाऽऽत मार्गमुच्छिन्द न्तीति भवति–अभिमराः । ततश्च दुरन्त–दुरन्तफलितनोपभोग्यचाराद् दुष्पार पाम्नाः । 'अस्मिन्'

प्रागवर्णितस्वरूपे ' दुरन्ते ' कुमार्गे ' कारुण्यात् ' मास्मामी भूवम् अहा अस्मिन् कुपथ पतु इति दयाऽध्यवसायात् ' यः ' कश्चिन्महामनस्वी ' सुधु ' लिङ्गिभावनाभाविबेतु मर्त्येषु ' कुबोध ' दुरेचनोत्पादितमसत्यथेऽपि सत्यभ्रम ' निरसिसिषु ' बिभिसुः । यदि हि कथञ्चिदमीषां मूढानां दुरन्तदोषग्रामस्य दर्शनेनापि कुबोधो विध्वंसते तदाऽमी उपकृता भवन्तीत्याशयेन 'दोषसङ्ख्यां' गणयेयवा 'विवक्षेत' अभिधित्सेत्, एतावत् सङ्ख्या अत्र कुमार्गे दोषाः सन्तीति वक्तुमिच्छेदित्यर्थः। स पुमान् ' अम्भो ' जल अम्भोधेः-समुद्रस्य जलं ' प्रमित्सेत ' इयत्प्रमाणम् इति कुडवादिभिः संचिकल्पयेत् । जलधिजलप्रमित्साविदर्शनेन दुरन्तदोषाणामसङ्ख्येयताभिधानेच्छा अपरितुष्यन् विवक्षितानन्त्य विज्ञापयिषया निदर्शनान्तरमाह–'सकलगगनोल्लङ्घनं' पङ्गुर्वा समप्रान्तविश्रान्तं प्रापणं, येति यथान्तरे, चिचिन्तयेत्–चिकीर्षेत । अत्र च निदर्शननामालङ्कारः । ततोऽयमर्थः–यथा सागराम्भो ऽतिभूयस्त्वात् प्रमातुमशक्यं, तथा दुरन्तस्य महामिथ्यात्वरूपस्य लोकोत्तरविरुद्धासमञ्जसचेष्टित–प्रवाहसम्भृ[स्त]त्वात् तद्दोषसङ्ख्याऽप्यतिबाहुल्यात्कर्तुमशक्येति, अतो दिङ्मात्रमेवोदाहृत, तावन्मात्रेणापि केषाञ्चित्पुण्यात्मनां मोहापोहेन सत्यमार्गाभ्युपगमो भविष्यतीति चिरेति वृत्तार्थः ॥ २५ ॥

ननु–उक्तन्यायेन लिङ्गिनः चेत् यतयो न भवन्ति तर्हि न सन्त्येव, अपिस्सम्प्रति सूत्रोक्तलक्षणभाजो यतयोऽदर्शनात्, तथा च ज्ञानदर्शनाभ्यामेव भगवत्तीर्थमनुवर्तत इति मन्यते त प्रत्याह—यथा–

न सावद्याम्नाया न बकुश–कुशीलोचित–यति ॥ २६ ॥

व्याख्या—यथेति, यथा सम्प्रति भूयांसो लिङ्गिनः सन्ति ' तथा ' तेन प्रकारेण विरलाः सुविहिता अपि, इत्येतदेवाह–तेऽद्यापि स्युरिह यतय इति सम्बन्धः । ' आम्नायो ' गुरुशिष्यप्रतिशिष्यादिक्रमेण सम्प्रदायः ' सावद्यः ' प्रागवर्णित औद्देशिकभोजनाद्युपभोगादेः सपाप आम्नायो येषां ते तथा, नञा तेषां निषेधः । अधुनातन कल्प्यौद्देशिकभोजन–चैत्यवासादिना सावद्यसम्प्रदायवन्तो यत न भवन्ति, तथा ' बकुशं ' शबल–अतिचारपङ्केन समल, प्रकृष्टचारित्र, तत्र बकुशचारित्रयोगात्साधवोऽपि बकुशाः ते च द्विविधा–उपकरण–देहभेदात् । तत्रोपकरणबकुशा ये वर्षाभरयासवि–मन्तरेणापि कदाचित् वस्त्रादिक धावन्ति, सूक्ष्मार्थश्लक्ष्णादि च बिभूषन्ति कदाचित्परिदधते च, पात्र दण्डकादपि घृष्टं तैलादिम्रक्षणोत्पादितं तेजस्कं च धारयन्ति, उपकरणमप्यतिरिक्तं प्रार्थ

पन्त इति । देहबकुशास्तु ये करचरणनखादीन् कदाचित् निर्निमित्त भूषयन्तीति । इमे च द्विविधा अपि ऋद्ध्यादिपरिवारादिकां विभूतिं तथा पाण्डित्यादिप्रभवं च यशः प्रार्थयन्ते, तदासादने न च प्रमोदन्ते, छेदार्हैरतिचारैर्बहुभिः शबलिता अपि कर्मक्षपणार्थमुद्यता इत्यादिलक्षणयुक्ता बकुशाः । यदुक्तं—" उवगरण-देह-चोक्खा, इड्ढीरसगारवा सिया निच्चं । बहुसबल छेयजुत्ता, निग्गंथा बाउसा भणिया ॥ १ ॥ " तथा कुत्सितं ' शीलं ' चरणं येषां ते तथा, तेऽपि द्विधा—आसेवना—कषायभेदात्, तत्रासेवनाकुशीला ये ज्ञान दर्शनचारित्रतपांसि किञ्चिदुपजीवन्ति, कषायकुशीलास्तु ये क्रोधादिभिः कषायैर्ज्ञानादि गुणान् पुष्णन्ति, अथवा कषायैर्ज्ञानादीन् ये विराधयन्ति भवोच्छेदायोपस्थिता अपीत्यादि लक्षणमाश्च कुशीला इति । ततो बकुशाश्च कुशीलाश्चेति द्वन्द्वः । तेषामुचिता—योग्या ' यतिक्रिया ' प्रत्युपेक्षाप्रमार्जनप्रभृतिका साधुसामाचारी, तया ' युक्ता ' रहिता ये न भवन्ति, प्रत्यहं यतिकृत्यं च तत्—"पडिलेहणापमज्जणा–भिक्खिरिया–लोयभुंजणा चेव । पत्तगधुवणवियारा, थंडिलआवस्सयाई ॥ १ ॥ " इत्यादि दशविधचक्रवालसामाचारीचरित इत्यर्थः । यदुक्तं श्रीउमास्वातिवाचककृततत्त्वार्थसूत्रे भाष्ये च " पुलाक–बकुश–कुशील–निर्ग्रन्थ–स्नातका निर्ग्रन्थाः" [अ ९ सू. ४९] [भाष्ये] पुलाको बकुशः कुशीलो निर्ग्रन्थः स्नातक इत्येते पञ्च निर्ग्रन्थविशेषा भवन्ति । तत्र सततमप्रतिपातिनो जिनोक्तादागमात्—निर्ग्रन्थपुलाकाः । नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिताः शरीरोपकरणविभूषाऽनुवर्तिनः ऋद्धियशस्कामाः सातगौरवाश्रिताः अविविक्तपरिवाराः । अविविक्ता इति न असंयमाद् पृथग्भूताः । कर्तरिका कल्पितकेशाः, एवंविधः परिवारो येषां ते, छेदशबलयुक्ताः सर्वदेशच्छेदार्ह अतीचारजनितशबलन—वैचित्र्येण युक्ताः, बकुशाः । कुशीला द्विविधाः—प्रतिसेवनाकुशीलाः कषायकुशीलाश्च, तत्र प्रतिसेवनाकुशीला नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिताः ये अनियतेन्द्रियाः अजितेन्द्रियाः रूपादिविषयेष्वासक्ताः कथञ्चित् कश्चिदुत्तरगुणेषु विराधयन्तः चरन्ति, ते प्रतिसेवनाकुशीलाः । प्रतिसेवनाऽधिकारे प्रतिसेवनापञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनविरतिषष्ठानां पराभियोगाद् बलात्कारेणान्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाकः स्यात्, मैथुनमित्येके । बकुशो द्विविधः—उपकरणबकुशः शरीरबकुशश्च । तत्रोपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रमहाधनोपकरणपरिग्रहयुक्तः—विविधं प्रमाणेन, विचित्रं—रक्तपीतादिभिर्वर्णैर्बहुमूल्योपकरणयुक्तः बहुविशेषोपकरणकाङ्क्षायुक्तो । बहु—विशे[ण] मृदु—दृढ—रुचिर—वर्णादि—युक्तोपकरणं आकाङ्क्षाभिलाषः, नित्यं तत्प्रतिसंस्कारसेवी, नित्य—सर्वदा ' तस्य ' उपकरणस्य ' प्रतिसंस्कारं ' प्रक्षालन—श्लक्ष्ण—घन—पटिकावेष्टनादिकं, तत्सेवी भिक्षुरुपकरणबकुशो भवति । शरीराभिष्वक्तचित्तो विभूषार्थं तत्प्रतिसंस्कारसेवी शरीर

बकुशः । प्रतिसेवनाकुशीलश्च मूलगुणानविराधयन् नुत्तरगुणेषु काश्चिद्विराधनां प्रतिसेवते । कषायकुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति । पुलाकस्योत्कृष्टस्थितिषु देवेषु सहस्रारे, बकुश-प्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिषु आरणाच्युतकल्पयोः, सर्वेषामपि जघन्यः पल्योपमपृथक्त्वस्थितिषु सौधर्मे उपपातः । अत्र च पुलाक-निर्ग्रन्थ स्नातकपरिहारेण यत् बकुशकुशीलोचितक्रियायुक्तयतिग्रहणम् तदेतेव सर्वतीर्थकराणां तीर्थप्रवृत्तेः, “ सव्वजिणाणं सम्मा, बकुसकुसीलेहिं वट्टए तित्थं । ” इति वचनात् । तथा ‘ न मूर्च्छा ’ न स्पृहा ‘ मदो ’ जात्यादिभिरात्मोत्कर्षप्रत्ययः ‘ ममता ’ गृहस्थादिषु प्रतिबन्धो, ममैते योगक्षेमं वहन्ति, ततो यद्यमीषां कार्यमहं न सम्पादये इत्यादि स्नेहेन तत्सुखदुःखाभ्यां यतेरपि तद्वत्तेति यावत् । ‘ आजीवन ’ आजीविकानिर्वाह स्तस्मात् भयं, तदभावसम्भावनया भीतिर्गृहिभिर्विहितद्वेषित्वात् सिद्धान्ताध्ययनादिविर हिता वा गृहस्थच्छन्दोऽनुवृत्तिं विना निस्पृहतया शुद्धं प्ररूपयन्तो वा, एतत्कृतनिर्वाह भावेन कथं वयं जीविष्याम । इत्याद्यध्यवसाय इत्यर्थः । ततश्च मदश्चेत्यादि द्वन्द्वः । तैः । महासत्त्वानां हि स्वजन-धन-पुत्र कलत्रादि-सङ्गत्यागेन प्रव्रज्याग्राहिणां कुतस्त्यो गृहस्थादिषु ममताद्यवकाशः ?, क्लीबानामेव तत्सद्भावात् । एवं च सति ये ममतादिभिर्व र्जिताः । तथा ‘सङ्क्लेशः’ अविच्छिन्नप्रवाहतया प्रतीयमानो रौद्राध्यवसायः तस्य ‘आवेश’ आवेगः-तत्कर्षो येषामिति व्यधिकरणो बहुव्रीहिः । ते, तथा ये न भवन्ति, सञ्ज्वलन कषायोदयत्वेन तेषां तन्निबन्धनस्वप्रथमादिकषायोदयाभावात् । ‘ न कदभिनिवेशा ’ अनाभोगादिनाऽन्यथाकारं स्वयं प्रवृत्ते अभ्युपगते वा वस्तुनि कुत्सितमानसाग्रहवन्तो ये न भवन्ति, तत्कारणमिथ्याभिमानाभावात् । ‘ न कपटप्रिया ’ मायाप्राधान्येनानुष्ठाननिष्ठा ये न भवन्ति, तन्निमित्तमनन्तानुबन्धिपरिणामाभावात् । ममताजीवनभयादयश्च साधुत्वघातकत्वात्-यतीनां सर्वथा हेया एव इत्यतस्तेषामिह निषेधो विशेषेण प्रदर्शितः । यदुक्तं-“ एवं च संकिलिट्ठा, माइट्ठाणम्मि निच्चतल्लिच्छा । आजीविगभयघत्था, मूढा नो साहुणो नेया ॥ १ ॥ ” य एवं गुणगणोपेतास्ते ‘ यतयः ’ साधवः ‘ अद्यापि ’ सुसाधुरहिततया क्लिष्टे दुष्षमाकालेऽपि, आस्तां दुष्षमसुषमादाविस्यपि सम्बन्धार्थः । स्युर्भवेयुः ‘ इह ’ प्रवचने ‘ धर्मरतयः ’ सिद्धान्ताध्ययनाध्यापनव्याख्यानभावनपरा यणाः, अध्ययनादिकर्तव्यता विषयतयैव तेषां शास्त्रीयशिक्षाभणनात् । यदुक्तं-“ स्वाध्यायध्ययनं चाध्यापनं च, सुश्चिन्तनं तथात्मनि च । धर्मकथनं च सततं, यत्नः सर्वात्मना कार्यः ॥ १ ॥ ” न तु लिङ्गिन इव प्रव्रज्यादिनमारभ्य व्यवहारस्य आदिप्रयोगतत्पराः । एतेन तपादिमानादिभावप्रतिपादितः, महात्मनां स्वाध्यायनादेरेव फलत्वात् । एतेन

न मन्स्येव सम्प्रति यथोक्तलक्षणमाली यतयोऽदर्शनादित्यादि यदाशङ्कितं तदपास्त, कालादिदोषात्-प्रायशः तथाविध-यतीनामदर्शनेऽपि क्वापि ते न सन्तीत्यनाश्वासस्य कर्तुमयोग्यत्वात्, तदुक्तं-" कालाइदोसओ कहवि, जइवि दीसंति तारिसा न सई। सव्वत्थ तहवि नत्थित्ति, नेव कुज्जा अणा[स्सासं]आसं (?) ॥ १ ॥ " आतीर्थमागमे बकुश-कुशीलानामनुवृत्तिभणनात्। यदाह-" न विणा तित्थं नियठेहिं, नातित्थं च नियठया। छक्कायसंजमो जाव, ताव अणुसज्जणा दुन्ह ॥ १ ॥ " इति, बकुशकुशीलयोरनुवृत्तिरिति तत्र व्याख्यानात्, तथा च ज्ञानदर्शनाभ्यामेव सम्प्रति तीर्थमिति ब्रुवाणस्य महत् प्रायश्चित्तापत्तेः, यदाह-" केसिंचि आएसो, दंसणनाणेहिं वट्टए तित्थं। बुच्छिन्नं च चरित्तं, वयमाणे भारिया चउरो ॥ १ ॥ " असत्प्रलापात् सर्वनिन्हवत्वप्रसङ्गात्, यदुक्तं-" जो भणइ नत्थि धम्मो, नय सामाइय न चेव य वयाइं। सो समणसंघबज्झो, कायव्वो समणसंघेण ॥ १ ॥ " तस्मात् सन्त्येवाद्यापि विरलाः प्रागभिहितगुणा मुनयो। यदाह-" सो सासणस्सिमहविदुरिय वि, वह दक्खिणे वि इह सिद्धे। अत्थि द्वि[चि] य जा तित्थं, विरलतरा कज्ज मुणिपवरा ॥ १ " इति वृत्तार्थः ॥ २६ ॥

तदेव दुष्षमायामपि सुविहित यतिसत्तां व्यवस्थाप्य साम्प्रत सामान्यविशेषगुण वत्तया तेषामेव वन्दनीयतां प्रदर्शयन्नाह—

संविग्नाः सोपदेशाः श्रुतनिकषविदः सूत्रकाणापेक्षा ॥ २७ ॥

व्याख्या—ये यतयः सत् साधवोऽस्मिन्निति गम्यते। 'संविग्ना' मोक्षाभिलाषुकाः भवभीरवो वा, न तु परलोकवैमुख्येनेहलोकप्रतिबद्धाः। एवंविधा अपि स्वनिस्तारका एव भविष्यन्ति, तथा च किं? नैरित्यत आह-'सोपदेशा' धर्मदेशनातत्पराः, न स्वालस्य मानशीलत्वादिना तद्विमुखाः, त विना भव्योपकाराभावाच्च भावस्य यतिना विधेयत्वात्, अन्यथा आत्मम्भरित्वमात्र प्रसङ्गात्, यथाकथञ्चित् तद्भव मुक्तिगामुकेनापि च कृतकृत्येन भगवता भविकोपचिकीर्षया तदादरणात्, एतादि नाऽप्याचार्येण धर्मव्याख्यानमवश्यं कर्त्तव्यमित्यागमेऽभिधानाच्च। यदाह-" ता चेव भयणाई, तेलुक्काइय सदोसमणम्मुयिए। एवं चि निच्चं, वक्खाणिअवि आयरियो ॥ १ ॥ " 'श्रुतनिकषविदः' आगमरहस्यनिपुणाः, एतेन गीतार्थतया धर्मकथाधिकारित्वमाह, अगीतार्थस्य तदयोगात्। एवंविधा अपि स्वयं क्रियाशिथिला भविष्यन्तीत्यत आह-'सूत्रकाणापेक्षा' अस्मिन् सूत्रे सूत्रमिव काणं, आदिग्रहणात्कुशीलादिग्रहः, एवंविध

च बले सति विधीयमानमेवदनुष्ठानम् अस्माकमारमसंयमशरीरयोरवाधकं भविष्यतीति देशसमयबलानुसार्यनुष्ठानं विहारक्रमादि क्रियाकाण्डं येषां ते तथा, अनेन पदद्वयेन ज्ञानक्रियावयानुगामित्वं तेषां निवेदितं, तत्प्रधानत्वात् दीक्षायाः केवलयोरनिष्टफलस्याभिधानेन समुदितयोरेव तयोः पक्ष्यूपयोरिवेष्टफलसाधकतया तैः इष्टत्वात् । एवंरूपा अपि कुतोऽपि कदाग्रहगरलोद्गारात्–उत्सूत्रं प्रज्ञापयिष्यन्तीत्यत आह–' शुद्धमार्गप्रकटनपटवः ' यथार्थभुवनमप्रकाशनचतुराः, अणीयसोऽप्युत्सूत्रपदस्य दारुणं विपाकं विन्दतः कथमपि न तथा वदन्तीत्यर्थः, अत एव कथञ्चित् कर्मदोषात् चरणकरणालसेनापि शुद्ध एव मार्गः प्ररूपणीयः, यदुक्तं–" हुज्ज हु वसण प्पत्तो, सरीरदुब्बलयाइ असमत्थो । चरणकरणे असुद्धो, सुद्ध मग्गं परूविज्जा ॥ १ ॥ " तथाविधस्यापि शुद्धपथप्ररूपणात् प्रेत्य बोधिप्राप्त्या कथञ्चित्संसारपारावारनिस्तारात्, अशुद्धपथप्ररूपकस्य दुष्करक्रियाकारिणोऽप्यमुत्र बोधिरत्वाऽनन्तभवनिर्वर्तनात्, अत एव तादृशस्य दर्शनमात्रमपि श्रुते निवारितं, यदाह–" उम्मग्गदेसणाए, चरणं नासंति जिणवरिंदाणं । वावन्नदंसणा खलु, न हु लब्भा तारिसा दट्ठुं ॥ १ ॥ " अतः शुद्धपथमेव ते प्रथयन्ति, अत एव ' प्रास्तमिथ्याप्रवादाः, ' स्वपक्षे निराकृतोत्सूत्रोक्तवचनरूप्यता परपक्षे तु निरस्तप्रवादुकमताः ' वन्द्याः ' यथार्हं ज्ञातसाधर्मवन्दनादिना प्रणमनीयाः ' सत्साधवः ' सुविहितयतयः अस्मिन् जिनशासने दुःषमाकाले वा ' नियमो ' द्रव्याद्यभिग्रहः ' शमः ' कषायनिग्रहः ' दम ' इन्द्रियवशीकारः 'औचित्यं' सर्वत्र योग्यताऽनुसारेण विनयादिप्रयोक्तृत्वं ' गाम्भीर्यं ' अलक्ष्यहर्षदैन्यादिविकारत्वं ' धैर्यं ' विपत्स्वपि चेतसोऽवैक्लव्यं ' स्थैर्यं ' विमृश्य कार्यकारित्वं ' औदार्यं ' विनेयादीनामध्यापनादि विपुलाशयता ' आर्यचर्या ' सत्पुरुषसमाचरिता ' विनयो ' गुर्वादिष्वभ्युत्थानादि प्रतिपत्तिः ' नयो ' लोकलोकोत्तरा–विरुद्ध–वर्तित्वं ' दया ' दुःस्थिता ... करणत्वं ' दाक्ष्य ' धर्मक्रियास्वनालस्यं ' दाक्षिण्यं ' सरलचित्तता, गुणैः ' पुण्याः ' पवित्रा मनोज्ञा वा साधवो वन्दनीया भवन्तीति वृत्ता

साम्प्रत प्रकरणकारः प्रकरणं समा ... सूचयन् भङ्ग्यन्तरेण स्वनामधेयमाविर्भावयितु

जिनाजिष्णुमगर्भसस्मरमनाशाद् ... । ४८

व्याख्या—जिनं वन्द इति सम्बन्धः । ' [... अतिशयत्वेन् अत्यन्तं शोभमानं ' अभयं ' उ ...

'भुवोऽहन' शिवान्ताविक्रमे अनायासात्, आशां-मनोरथं 'ददाति' पूरयति आशास्य, न आशाशोऽनाशाशः त, श्रुताज्ञातिक्रमकारिणः पुंसो नानुमन्तारमित्यर्थः। सद् ज्ञानपूर्वकं, सत् ज्ञानेन-केवलज्ञानेन लोकालोकावभासकत्वात्-भास्वन्त 'जिन' तीर्थकरं, यथा " सवधुरा अर रूव, अंगुठ्ठपमाणयं विउव्विज्जा। जिणपायंगुट्ठपरे, न सोहए तं जहिं गालो ॥ १ ॥" इत्यादिवचनेन 'वरा' मर्यादृष्टभगा 'वपुः श्रीः' शरीरकान्तिः, सैव 'चन्द्रिका' जगतीजनप्रमोदकारित्वात् कौमुदी, तया 'भेदरं' नयननाथ, चन्द्रिकया चन्द्रवद्वपुःश्रिया त्रिजगदाह्लादकमित्यर्थः। 'वन्द' स्तुत 'वर्ण्य' स्तुत्य 'अनकपा' वहुना 'अमुन्नरैः' दानवमानवैः 'शकेन' मघोना, 'यः' प्रभुश्च, एनश्छिद-कल्मषपर्वतस्य 'दम्भारिं' आत्मनिष्ठापक 'विदुषां' विपश्चितां 'यशः' सर्वदा 'सुवचसा' मधुरगिरा 'अनकान्तरामग्रं' किल जैनदर्शने त्रैलोक्य वर्तिमकल वस्तुजात सदसन्नित्यानित्यादिरूपतयाऽनेकान्तात्मकमभ्युपगम्यते, तथैव प्रमाणापपन्नत्वात्, न तु परतीर्थिकवत्सदेवासदेव वा नित्यमेवानित्यमेव चेत्यादिरूप तयैकान्तात्मक, तस्य विचारासहत्वात्। ततोऽनेकान्ते-ऽनेकान्तात्मकवादे एक-मनुराग यस्य यः स तथा स, अनेकान्तवादक्षीरपुष्पादक, वर्कशर्करारससन्दिन्या वाचा तथा भगवाननेकान्तवाद स्फुरयत्यति, यथा विद्वांसः स्याद्दर्शनरागेण तत्रैव रज्यन्त इत्यर्थः। 'चक्रमिद' चक्रबन्धः 'माघमुखं' पाठरूपा वर्णन्यासपरिपाट्या माघकाव्य स्वचक्रान्त 'माघकाव्यमिद-शिशुपालवध' इत्यक्षरो नामबन्ध प्रादुर्भवति, इहापि तादृश्येवेति माघसमवायः, अत्र च "जिनवल्लभेन गणिनेदं चक्रे" इति नामबन्धः स्थापना चेय-एतदेव चक्राक्षरन्यासस्वरूप व्यक्तमिति वृत्तार्थः ॥ २८ ॥

अथ चानन प्रकरणेन मयापास मिथ्यात्वपन्नारूपप्रकटित प्रभुमीजिनवल्लभसूरयः किमित्यत्र प्रकृष्टतया निर्दिष्टो भवद्भिर्दूषिता ? इति कनाप्युपालम्भावस्तस्य च प्रति वचन तस्मै वक्ष्यमाणवृत्तद्वयनाभ्यन्तस अनस्तदपि प्रकृतानुपातित्वादस्य प्रकरणान्त निबद्ध मदिदानीं व्याख्यायत इत्याह—

जिनपतिमतदुर्गे कातरः साधुरूपैः ॥ २९ ॥

व्याख्या—जिनपतिमतमेव-भगवच्छासनमेव मिथ्यात्वादि वैरिवारदुर्धाम त्वात्-तदुन्मूलन प्रतिपक्षैरधृष्यत्वात् उपमितमत्यन दुर्गातिस्थाय 'दुर्गं' प्राकारः तस्मिन् 'अभिभूत' उपद्रुत-विडम्बित इत्यथ। साधुवेषे-लिङ्गिभिः 'मन्मथो' मन्म थानिग्रहः, न व्याइच्छामनरतानां नानाविपत्तावाविर्भाविभ्यात् कुत्सित-स्तुत्याधिरः

तस्य सैन्याः तदनुवर्तिवेष्टितत्वात् सैनिकास्तैर्लिङ्गिभिः—म्लेच्छैः । द्वितीयपक्षे भस्मीकृतपाशदेशैः । अथ कथमेवंविधस्यापि जिनमतदुर्गस्य लिङ्गिभिरपि लिङ्गिभिरभिभव ? इत्यत आह—'कालतो' दुष्षमासमयदोषात्, अभिभूयन्ते हि कालबलान्महातेजस्विनोऽपि, तथा 'स्वपक्षप्रजनानां' सम्यक्त्वव्यारोपणव्याजेनात्मायत्तीकृतमुग्धलोकानां 'स्वगच्छस्थितिः' एते वयं सम्प्रदायागता युष्माकं गुरवस्तस्मात् कदाचिदपि न मोक्तव्या इत्यादिका प्राक्प्रतिपादिता निजगच्छमुद्रा 'इय' एषा 'अधुना' इदानीं 'तैः' साधुवेषैः 'अपयि' सर्वत्रैकमत्येन प्रतानि । 'स्वार्थसिद्ध्यै' कथमस्माकं मते भोग्या भविष्यतीति निजकार्यनिष्पत्तये, अत्रार्थेऽनुरूपमुपमानमाह—'शृङ्खलेव' निगड इव । एतदुक्तं भवति—यथा म्लेच्छसैन्याः कस्मिंश्चिदपि दुर्गे स्वभुजबलेन गृहीते प्रविश्याथ तदन्तर्वर्तिनागरिकलोकसंयमनाय शृङ्खला प्रसारयन्ति, तथैतेऽपि लिङ्गिनः स्वोपभोगार्थं मुग्धजननियमनाय गच्छस्थितिं प्रथयामासुरिति वृत्तार्थः ॥ ३९ ॥

ननु ते यदि गच्छस्थितिं सर्वत्र विस्तारयामासुरेतावताऽपि किं ? इत्यत आह—

सम्प्रत्य प्रतिमे कुसङ्गवपुषि प्रोज्जृम्भिते भस्मक—॥ ४० ॥

व्याख्या—मोहराजकटके प्रौढिं जग्मुषि लोकैर्वयं कदर्थ्यामहे इति सम्बन्धः । 'सम्प्रति' अधुना 'प्रोज्जृम्भिते' अभ्युदिते 'भस्मकम्लेच्छाद्युच्छबले' भस्मराशितुरुष्काधिपतिसारसैन्ये 'अप्रतिमे' तथास्थितयाऽनन्यसाधारणे 'कुसङ्ग एव' प्राग्वर्णितनिर्गुणसाध्वादिसमुदाय एव 'वपुः' शरीरं स्वरूपं यस्य तथा, तस्मिन् । भस्मकम्लेच्छस्य हि कुसङ्ग एव स्वसैन्यं, ततो यथा म्लेच्छोऽश्वादिसाधनेन परजनपदमभिभवति, एवं भस्मकोऽपि प्रबलः कुसङ्गबलेन भगवच्छासन मालिन्योत्पादनेन तिरस्कुरुते, तदा 'दुरन्तदशमाश्चर्ये' दुरन्तसंयतपूजाख्यान्त्याश्चर्ये, च समुच्चये, 'विस्फूर्जति' प्रभविष्णौ, एवं च सति 'प्रौढिं' स्फातिं 'जग्मुषि' प्राप्तुषि 'मोह एव' मिथ्याज्ञानमेव, शिवपुरप्रापकसंसारमार्गस्यानिकारणत्वात् अतिदुर्जयत्वात् रागादिप्रभवत्वाच्च 'राजा' पार्थिवः तस्य 'कटके' अनीके प्रागुक्तस्य भस्मकादेः सर्वस्यापि मोहराजपरिच्छदभूतत्वेन तत्कटकरूपत्वात्, अयमर्थः—मोहो हि मुख्य मौलराजकल्पः तस्य च कुसङ्गलक्षणचतुरङ्गबलकलितो भस्मको म्लेच्छाख्यमहासामन्तकल्पः, दशमाश्चर्यं तु स्वत एवातिप्रबलत्वात् साहाय्यान्तरनिरपेक्षमेव द्वितीयमहासामन्तप्रकल्पं, ततो यथा कश्चिन्महाराजाधिराजो म्लेच्छादिमहासामन्तैर्भूमण्डलं साधयति, तथाऽयमपि मोहराजो भस्मकादिभिर्जिनशासनमभिभवतीति, ततो 'लोकैः' कुसङ्गजनैः तद्यथा—मोहराजशासन

मनतिक्रामन्निर्मूढत्वादविमृश्यत्वात् अविमृश्यकारिभिरित्यर्थः । 'एकीभूय' दुष्टत्वेनैक्यमस्य विधाय, इत्य मुग्धजनप्रतीतैराक्रोश-तर्जन-हीलादिभिः प्रकारैः शास्त्रबलेन वय 'कदर्थयामः' पीडयामः-उपहास्यामः इत्यर्थः । केन हेतुनेत्याह-'सदागमस्य' लिङ्गिप्रथित-मिथ्यापथोत्थपथप्रतिपादकस्य शुद्धसिद्धान्तस्य 'कथयाऽपि' धर्मदेशना द्वारा विचारमात्रेणापि, यदि हि पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण साधनदूषणोपन्यासे प्रकृतविषय परैः सह वादमुपक्रमामहे तदा न विद्मस्त किमपि कुर्वीरन् इत्यपि शब्दार्थः, तथा च वय शुद्धसिद्धान्तविचारं भव्येभ्योऽनुग्रहबुद्ध्योपदिशन्तो नाल्पीयां समभ्युपालम्भमर्हामः । यदुक्त-" नेत्रै र्निरीक्ष्य विषकंटकसर्पकीटान्, सम्यक् पथा व्रजत तान् परिहृत्य सर्वान् कुज्ञान-कुश्रुति-कुदृष्टि-कुमार्गदोषान्, सम्यग्विचारयत कोऽत्र परापवादः ? ॥ १ ॥ " इति वृत्तार्थः ॥ ४० ॥

[अथ ग्रन्थकृत्प्रशस्ति]

श्रीमति खरतरगच्छे, श्रीजिनभद्राभिधा गणाधीशाः ।
सिद्धान्तरुचिमौक्ता-भूषानाः सन्ति तच्छिष्याः ॥ १ ॥
श्रीमदभयसोमाख्-पाध्यायास्तद्विनेयविख्याताः ।
तच्छिष्यहर्षराजो-पाध्यायेन हि कृता वृत्तिः ॥ २ ॥
लब्धिवाग्गुरुमद्रो-दयसाहाय्यात्स सङ्घपट्टस्य ।
श्रीमज्जिनपतिसूरीश्वर-कृतसत् वृहत् टीकातः ॥ ३ ॥ त्रिभिः कुलकम् ॥
यदत्र हर्षराजेन, लिखितं मतिमान्द्यतः ।
विरुद्ध च तदुत्सूत्रं बुधैः शोध्यं सुबुद्धिभिः ॥ ४ ॥
॥ इति सङ्घपट्टकलघुवृत्तिः सम्पूर्णा ॥

[लेखक प्रशस्ति]

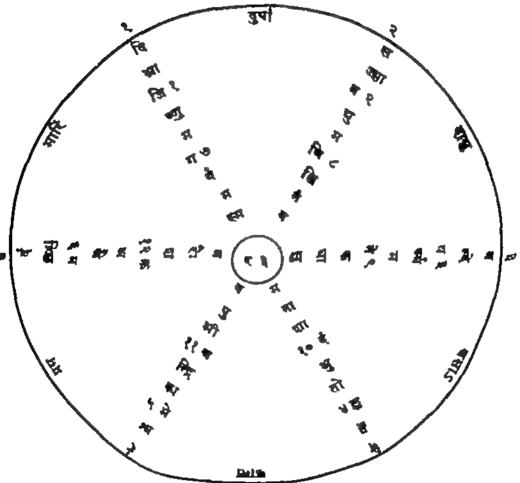
संवत् १६०८ वर्षे माहसुदि ५ दिन शनिवार श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनमाणिक्य सूरिविजयराज्ये श्रीविक्रमनगरे गणधर चोपड़ागोत्रे सा० दशराजस्तत्पुत्र सा० अग सिंहस्तत्पु० सा कम्मा सा० था० कौतिकदेवाः पु०रत्न सा० रायपाल सुरताण संसार चंद प्रमुखपरिवारयुतेन सा० रायपालन ज्ञानपञ्चमीतपस उद्यापने श्रीसङ्घपट्टकलघुवृत्ति प्रतिर्विहराविता श्रीधनराजोपाध्यायानां वाच्यमान चिरं नन्दतु ॥ शुभं कल्याणमस्तु । श्रीधनराजोपाध्यायशिष्यैः प्रमादीकृता प्रतिरिय वा० जयसुन्दरगणेः ।

शुभं भवतु लेखक पाठकयोः । कल्याणमस्तु । श्रीः ।

म चक्रबन्धोऽयम्—

"जिनवल्लभेन गणिनेदं चक्रे"

इति नामबन्धः स्थापना । सं० प० श्लोक–१८ ॥



श्री सघपट्टक का हिन्दी भाषानुवाद।



'यद्दिज्वाला०'—कुपथ-कुधर्म के खण्डन करने में तत्पर, करुणारूपी अमृत के सागर पार्श्वप्रभुने अपनी माता तथा अन्य बहुत से लोगों के सामने कमठमुनि (तापस) की धूनी में जलती हुई लकड़ी के छिद्र में धूनी की ज्वाला से ज्वलितप्राय नाग को दिखलाकर कमठमुनि के तप को कुत्सित उद्घोषित किया और प्रभुने तन्निमित्त अनेक उपसर्गों का भी सहन किया। कमठमुनि के तपको दुष्ट तप उद्घोषित करते हुए भगवानने मानो लोगों से कहा कि "प्राज्ञों को उचित है कि-वे कष्ट उठाकर भी लोगों को कुमार्ग पर जाने से रोकें" कुप्रवृत्ति से लोगों को, परावर्त्तन करने-हटाने में तत्पर ऐसे पार्श्वनाथनामक जिनदेव की हम स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

'कल्याणाभि०'—हे शिष्य! तुम्हारा मानसिक परिणाम शुभ है, तुम गुणग्राही हो, कुमार्ग के प्रत्यर्थी-शत्रु हो, विनयशील हो, सरल हो, यथोचित कार्य करने में सर्वदा प्रवृत्त रहते हो, उदार, जितेन्द्रिय, नीतिमान्, स्थिरता एवं धीरता से युक्त, सद्धर्म के अभिलाषी, विवेक एवं सद्बुद्धि से युक्त हो इसीलिये हम तुमको उपदेश देते हैं अर्थात् सङ्घ व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं ॥ २ ॥

'इह किल०' इति-इस दुष्षमा काल में प्राणिवर्ग कलिकालरूपी महासर्प के दाढ़ में पड़े हुए हैं, प्राणियों में तत्त्व के प्रति प्रीति तथा नीतिमत्ता का बिलकुल अभाव हो गया है, अज्ञान एवं कुपथ की अहर्निश वृद्धि के कारण प्राणियों का सुगतिमार्ग अर्थात् देवगति आदिक सुपन्थ एकदम विच्छिन्न हो गया है। इस समय इस जगत में भस्मग्रह और उसका मित्र असंयमियों की पूजारूप दशम आश्चर्य खूब उन्नति पा रहे हैं, मिथ्यात्वरूप अन्धकार दिन दोगुना रात चौगुना बढ़ रहा है। इस मिथ्यात्व के कारण जैनेन्द्र मार्ग विरलता अर्थात् क्षीणता को प्राप्त हो चुका है। ऐसे अवसर में रौद्र अध्यवसायवाले द्वेषी, मूर्ख, दुर्जन तथा दुर्बुद्धियों के संघ की परम्परा में अनुरक्त, शिथिलमती, मार्गुणपंथी, आचारहीन चैत्यवासियों ने जिनोक्तमार्ग से विरुद्ध मार्ग को चारों ओर फैला रखा है ॥ ३ ॥ ४ ॥

'यत्रोद्दिश्य०'—आधाकर्मिक भोजन १, जिनालय में वास २, (वसति)

उपाश्रय के प्रति मत्सरता ३, धन अर्थस्वीकार ४, गृह आदिस्वीकार ५, तथा चैत्यसदन का स्वीकार ६, अप्रत्युपेक्षित आसन गद्दी पर बैठना ७, सावद्य आचरण में आदर रखना ८, श्रुतमार्ग का अपमान करना ९, और गुणिजनों के प्रति द्वेष रखना १०, ये दश द्वार रूप जिस मार्ग में धर्म माना गया है। यदि इस प्रकार का धर्म कर्म-मल को दूर करनेवाला हो तो मेरुपर्वत भी समुद्र में तैरने लग जाय। अर्थात् जैसे मेरुपर्वत समुद्र नहीं तिर सकता, उसी प्रकार यह धर्म भी कदाचिदपि कर्महारक नहीं हो सकता ॥५॥

(१) औद्देशिक आहार विषयक प्रथम द्वार कहते हैं—

'षट्कायाः०'—इति। पृथिवी आदि षट्काय के जीवों को निर्दयतापूर्वक उप मर्दित करके मुनियों के निमित्त जो आहार बनाया गया है, जिस आहार का शास्त्र में बारंबार निषेध किया गया है, जो आहार निसृशता-निर्दयता का सूचक है, जिस आहार को तीर्थङ्करआदिने गोमांसतुल्य कहा है, जिसको खाकर मुनि नरकगामी होता है। भगवत्सङ्घ आदि के निमित्त बनाये गये ऐसे आधाकर्मिक आहार को कौन दयालु मुनि ग्रहण करनेकी इच्छा करेगा? अर्थात् कोई नहीं ॥ ६ ॥

(२) अब जिनगृहनिवास विषयक दूसरा द्वार कहते हैं—

'गायक्०' इति—गन्धर्व(गायक) जहां गीत गा रहे हैं, वेश्यायें जहां नाच रही हैं, जहां वंशी की ध्वनि गुञ्जरित हो रही है, जहां मृदङ्ग ध्वनि गूंज रही है, जहां पुष्पमालायें लहलहा रही हैं, कस्तूरी की सुगन्ध से जहां देवभवन सुरभित हो रहा है, जहां पर जरीदार चंदोवा चमचम चमक रहा है, तथा खूब सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित श्रावक-श्राविकाओं के समुदाय का जहां आने-जाने का तांता (परम्परा) लगा हुआ है, जो कि मात्र भगवद्गुणगान भक्ति के लिये उपयुक्त हैं। उन चैत्यों-मन्दिरों में देवद्रव्य का उपभोग, ताम्बूल भक्षण, शयन, आसन आदि करने रूप आशातनाओं से डरते हुए जैनसिद्धान्त के मर्मज्ञ मुनि कभी भी निवास नहीं करते हैं ॥७॥

(३) परगृहवास विषयक तीसरा द्वार कहते हैं—

'साक्षा०' इति—भगवान् तीर्थङ्करोंने तथा गणधरोंने जहां स्वयं निवास किया है, और दूसरे साधुओं को भी वहां पर निवास करने की आज्ञा दी है, जो श्रेष्ठ मुनियों के लिये निस्सङ्गता का प्रधान स्थान परगृह(उपाश्रय) है, उसका धम्यागार (वसतिदान द्वारा संसारसागर को पार करनेवाला श्रावक) और अनगार(अगार-घर

रहित) इन दोनों का अर्थ जाननेवाला कौन ऐसा विद्वान होगा जो द्वेष करेगा ? अर्थात् विद्वान् पुरुष कभी भी उसका द्वेष नहीं करेगा ॥ ८ ॥ फिर भी कहते हैं—

'चिन्नोत्सर्गा०' इति—इस जिन प्रवचन में जो निशीथसूत्र नाम का छेदसूत्र है वह तो मानो मोक्षनगरी का एक दूत ही है। वह निशीथसूत्र अनेक प्रकार के उत्सर्ग और अपवादनय के प्रतिपादन से युक्त है। उस निशीथसूत्र में गृहस्थों के घर में उतरने के बहुत से भेद कहे गये हैं। उसमें पहले उत्सर्गरूप से कहा गया है फिर अपवाद से स्त्री, पशु, पण्डक आदि के संसर्ग से युक्त वसति में साधु को नहीं उतरना चाहिये, इस प्रकार से कहकर उसका अपवाद भी किया है कि—साधुलोग ऐसी वसती में भी यतना से रह सकते हैं। इसका निष्कर्ष यही हुआ कि निशीथसूत्र में स्त्री पशुपण्डक आदि से युक्त अथवा उससे रहित, इन दोनों प्रकार के गृहस्थ के घरों में साधुओं का उतरना नियमतः प्रतिपादित है। परन्तु जिनमन्दिर में उतरने के लिये कहीं भी नहीं कहा गया है ॥९॥

(४-५-६) अब गृहस्थ और चैत्य, इनका स्वीकार विषयक चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ इन तीन द्वारों को कहते हैं—

'प्रव्रज्या०' इति—तीर्थङ्करोंने धन स्वीकार करनेको प्रव्रज्याका विरोधी कहा है। फिर 'ये मेरे श्रावक हैं' इस प्रकार से सर्वारम्भी श्रावकों पर ममत्व रखना तो अत्यन्त सावद्य है। फिर यदि 'यह जिनालय मेरा है' इस प्रकार जिनालय के प्रति साधु, ममता रखे तो फिर उसमें अत्यन्त निन्दनीय मठपतित्व—मठधारीपना—आ जाता है। इस लिये मुक्ति के अभिलाषी साधुओं को चाहिये कि वे अर्थ श्रावक और जिनालय, इन सबों पर प्रव्रज्या को दूषित करनेवाली ममता कभी भी न करें ॥ १० ॥

(७) अप्रमार्जित आसन विषयक सातमा द्वार कहते हैं—

'भवति०' इति—गादी पर बैठने से असंयम अवश्यम्भावी है, क्यों कि उसकी प्रतिलेखना नहीं हो सकती। तथा गादी पर बैठने से विभूषा—शोभा होती है और साधुओं के लिये विभूषा का शास्त्र में निषेध किया गया है। गादी पर बैठना यह एक राजचिह्न है अतः साधुओं के लिये त्याज्य है। गादी पर बैठने से लोग साधुओं का उपहास करते हैं कि—'अरे! देखो येन यह मुण्डित होकर भी गादी पर बैठता है।' इस प्रकार लोगों में निन्दा भी होती है। और इसमें परिग्रह दोष तो स्पष्ट ही है। गादी पर बैठनेसे साधु की सुखभोगरूप तीव्र अभिलाषा भी प्रकट होती

है। इस लिये साधुओं को गद्दी पर कभी भी नहीं बैठना चाहिये। इसी प्रकार मस्तक सिंहासन–तकियेदार आसन–आदि पर भी नहीं बैठना चाहिये ॥ ११ ॥

(८) सावद्याचरित विषयक आठवाँ द्वार कहते हैं—

गड्डरी० गड्डरिया प्रवाह में पड़े हुए इन चैत्यवासियोंने इन आगे कही जानेवाली अयुक्त बातें कैसी फैला रखी है ? । वे इस प्रकार कहते हैं–श्रावक अपने अपने नियत किये हुए गच्छ के ही साधुओं को मानें। जिनालय में साधुओं का अधिकार हो। गृहस्थ लोग साधुओं को अशन पान खादिम स्वादिमरूप चतुर्विध आहार शुद्धि अशुद्धि का विचार किये बिना ही दें तो कोई दोष नहीं है। तथा श्रावक लोग सुविहित साधुओं के समीप शीलादि व्रत न लें, इत्यादि ॥ १२ ॥

(९) श्रुतपथ अवज्ञा विषयक नौवाँ द्वार कहते हैं—

'निर्वाहा०' इति–ऐसा गुरु कि–जिस के शील और वंश का कुछ भी पता नहीं है, जो गुण से हीन है, जिसने सिर्फ अपना पेट भरने के लिये ही प्रव्रज्या ली है, वह गुरु उदरम्भरी–पेटू, गुणहीन, अज्ञातशील वंशवाले लोगों को स्वार्थ के कारण मूंडते हैं, उन दुण्डितों की प्रसिद्ध गुण वंशवाले श्रावक भी गच्छरूपी महाग्रह से गृहीत होकर देवता से भी बढ़कर उनकी (चैत्यवासियों की) पूजा करते हैं, यह एक मोहनीय कर्मोदय का प्रभाव है ॥ १३ ॥ फिर भी—

'दुष्प्रापा०' इति–गुरुकर्मी (भारेकर्मी) लोगों को प्रथम तो सद्धर्मबुद्धि होना ही कठिन है। यदि कथञ्चित् सद्धर्मबुद्धि हुई भी तो शुभ गुरु का मिलना दुर्लभ है। यदि पूर्वपुण्य के प्रभाव से ऐसे गुरु भी मिल गये तो भी ये श्रावकलोग गच्छस्थिति के वशीभूत हो अपनी आत्मा का हित नहीं कर सकते। अरे ! अब ऐसी स्थिति है तब हम अपनी मानसिक वेदना किस के आगे प्रगट करें ? किस की शरण में जावें ? किस की आराधना करें ? अरे ! कुछ भी नहीं सूझता कि क्या करें ? क्या न करें ? ॥ १४ ॥ फिर भी—

'क्षुत्क्षामा' इति–भूख के मारे जिसका जी जा रहा था ऐसा कोई दरिद्र के बालकने वैराग्य के न रहते हुए भी किसी जिनालय में प्रव्रज्या लेली। फिर कालक्रम से उसने किसी पुरुष को अपने पक्ष में छल–प्रपञ्च के द्वारा कर लिया। फिर वह आचार्य बन बैठा। यह अत्यन्त आश्चर्य है कि–ऐसे साधु को आचार्यपदवी मिल

गई। जब आचार्यपद प्राप्त कर लिया तब यह गुणहीन साधु जिनालय को अपना घर समझता है। अपने को इन्द्र मानता है। विद्वानों को मूर्ख मानता है और संसार को तुच्छ समझता है। चैत्यवासियों की यह बात सर्वविदित है ॥ १५ ॥ फिर भी—

'धैर्जातो' इति—वचनों में भी अधम, मुनिवेषधारी ठग, इन श्रावकों को नाथे हुए बैल के समान इधर-उधर जहाँ चाहें वहाँ नचाते हैं। ये श्रावक न उनके पुत्र हैं, न उन से पालित हैं, न खरीदे हुए हैं, न उनके ऋणी हैं, न पहले कभी भेंट हुई थी, न ये उनके मित्र हैं, न इन ठगोंने पहले कभी रुपये-पैसों से उन को सन्तुष्ट किया है। अरे! तो भी देखो यह क्या विधिविधिप्त है जो ये श्रावक लोग इन ठगों के अधीन हो गये। अहो! इस अधःपतन का प्रतीकार कैसे हो? इस अनर्थ का प्रतीकार नहीं हो रहा है। इससे यही ज्ञात होता है कि इस समय संसार में कोई शासक नहीं रहा, कि जिसके आगे जाकर पुकार की जाय ॥ १६ ॥ फिरभी—

'किं०' इति—अरे! क्या इन मूर्ख लोगों को दिग्भ्रम(बेसमझी) हो गया है? क्या ये अन्धे और बहेरे हो गये हैं? क्या इन लोगों को योग(मन्त्रादि प्रयोग) और चूर्ण(शिरपर डालने की बुरकी) द्वारा वश में कर लिया है?, क्या इनका भाग्य खराब हो गया है? अथवा धूर्तोंने इन्हें ठगलिया है क्या? या ये लोग ग्रह गृहीत(पागल) तो नहीं हो गये हैं? जो कि प्रचुर दोषों को देखते हुए भी ये मूर्ख लोग जिनागम के शिरपर पैर रखकर कुमार्ग पर पड़े हुए हैं, उस परसे हटने का नाम ही नहीं लेते। अरे! इतना ही नहीं जो लोग कुपथ को दूर करने का प्रयत्न करते हैं तो उनसे ये मूर्ख लोग द्वेष भी करते हैं, अहो! यह कैसा भयङ्कर पतन है? ॥ १७ ॥ फिरभी—

'इष्टायाति०'—अविधिपूर्वक अर्थात् रात्रि में मूर्ख लोकों द्वारा विहित तीर्थङ्करस्नात्र, पापरूपी पङ्क में अवश्यमेव डुबाता है। क्योंकि अब रात्रि में तीर्थङ्करस्नात्र किया जाता है उस समय इकट्ठ हुए जनसमुदाय अर्थात् स्त्री पुरुषों के झुण्ड में बहुतसी ऐसी स्त्रियाँ आती हैं जो विटों की अर्थात् वेश्यापतियों की, नटों की अर्थात् नाटक करनेवालों की, भटों की अर्थात् सरखण्ड गुण्डों की अर्थात् दासों की प्रिय उपनायिकायें होती हैं, इस लिये ये विट नट आदि भी रात्रि में तीर्थङ्करस्नात्र में एकत्रित होते हैं। ये सभी नर-नारियाँ हृदय में संगम की अभिलाषा लिए हुए रहती हैं। तथा वे लोग—राग, द्वेष, मत्सर-दूसर के गुणों के प्रति असहिष्णुता, तथा ईर्ष्या अर्थात् अपनी

प्रियतमा को दूसरे पुरुष से बातें करते देखकर क्रोध करना, इन सबों से भरे हुए रहते हैं। रात्रि में किये गये तीर्थङ्करस्नात्र में जो ऐसे स्त्री-पुरुष एकत्रित होते हैं जिससे विनाशरूप में असमञ्जस प्रवृत्ति होती है इस लिए रात्रि में तीर्थङ्कर स्नात्र सर्वथा वर्जनीय है ॥ १८ ॥ फिर भी—

'जिनमत०' इति–जिनोक्त मत से विरुद्ध प्रकार से किया गया अर्थात् अविधिपूर्वक किया गया स्नात्र ही केवल अहित के लिये होता है, इतनाही मत समझो किन्तु जिनमत विरुद्ध विधि से किये गये तप–अनशन आदि, चारित्र–देशविरति और सर्वविरति, दान–अभयदान आदि, तथा विनय वैयावृत्य आदि भी मुक्तिरूप फल के दायक नहीं होते हैं। क्यों कि जिनाज्ञा भी यदि अविधिपूर्वक की जाती है तो वह अशुभ फल देनेवाली होती है, और यदि विधिपूर्वक की जाती है तो शुभ फल देनेवाली होती है। फिर इन चैत्यवासियोंने जो अविधि क्रिया का ढोंग फैला रक्खा है उससे क्या अनन्तसंसार की प्राप्ति नहीं होगी ? होगी ही ॥ १९ ॥ फिर भी—

'जिनगृह०' इति—विधिपूर्वक–अर्थात् शास्त्रोक्त प्रकारसे किये गये जिन भवन, जिनबिम्ब–भगवान की प्रतिमा, जिनपूजन, जिनयात्रा अर्थात् अष्टाह्निकादि महोत्सव, जिनप्रतिष्ठा, तथा दान–अभयदानादि, तप–अनशन आदि बारह प्रकार का तप, व्रत आदि अर्थात् स्थूल प्राणातिपातविरमण और अभिग्रह आदि, गुरुभक्ति–धर्माचार्य की भक्ति और श्रुतपठन अर्थात् सिद्धान्त का स्वाध्याय तथा सिद्धान्त के अर्थों का श्रवण आदि, ये सब आदरपूर्वक किए जाने पर भी यदि इन में कुमत, कुगुरु, कदाग्रह–कुत्सित आग्रह, कुबोध और कुदेशना का अंश मात्र भी मिल जाय तो ये जिनभवन आदि सब अनन्त संसार के कारण हो जाते हैं। जैसे उत्तम से उत्तम भोजन क्यों न हो ? यदि उसमें थोडासा भी विष मिल गया हो तो वह अनिष्टकारी हो ही जाता है ॥ २० ॥

'आकृष्टु' इति—जैसे मच्छीमार बडिश–फांसी (मच्छी पकडने का कांटा) में मांस के टुकडे को लगाकर मछलियों को आकृष्ट करते हैं उसी प्रकार ये धूर्त चैत्य वासी लोग भगवान की प्रतिमा दिखलाकर भद्रालु श्रावक लोगों को आकृष्ट करते हैं। भगवान् के नाम पर अपनी इष्ट सिद्धि के लिये ये सुन्दर २ जिनगृह और मठ, उन श्रावकों से बनवाते हैं। लक्ष्य तो केवल उनका अपने स्वार्थ पर है, परन्तु भगवान के नाम पर श्रावकों को ठगकर उनसे ये सब बनवाते हैं। तथा–यात्रा स्नात्र अर्थात्

पूर्वजों के उद्देश्य से जिनालय में यात्रा और जिनस्नात्र आदिक उपायों से और तमसितक–अर्थात् अमुक उपद्रव की निवृत्ति के लिये जिनभगवान के उद्देश्य से 'इतना द्रव्य देता हूँ' इस प्रकार के नियम कराने के, रात्रिजागरण और शान्तिक पौष्टिक आदि कर्म के छल (बहाना) से नाम मात्र के जैन इन धूर्त चैत्यवासी लोगों के द्वारा ये भद्रालु भोलेभाले श्रावक भूसलगे के समान ठगे जा रहे हैं, यह अत्यन्त खेद की बात है। इस विषयमें समझने की बात इतनी है कि–ये सभी इन लोगों के द्वारा अविधिपूर्वक कराये जाते हैं इस लिये इन सब का प्रतिषेध किया गया है, विधिपूर्वक तो इन की कर्तव्यता इष्ट ही है। इन की कर्तव्यता का स्थापन पूर्वोक्त सातवें और बीसवें काव्य में किया गया है ॥ २१ ॥

'सर्वत्रा०'–इति—जिनके आस्रव अर्थात् पापागमन के द्वार खुले हुए हैं, जिनकी श्रोत्रादि पांचों इन्द्रियाँ अपने विषयों में आसक्त हैं, गौरव अर्थात् ऋद्धि रस साता, इन तीन गौरव से चञ्चल–रौद्र मनोदण्डरूपी तूफानी घोड़ा जिनका उछल रहा है, कषायरूपी सर्प जिनके बढ़ रहे हैं, जो सभी प्रकार के अकृत्य कर्म करने में सर्वदा तत्पर रहते हैं, जो सभी प्रकार के अकृत्य कर्म करने में सर्वदा तत्पर रहते हैं–जो अन्त्य–अन्तिम अर्थात् दशवां आश्चर्य–असंयतियों की पूजारूप जो कि सब–दशों आश्चर्यों का राजा है उसके आश्रित होकर उद्धत बुद्धिवाले ये हीनाचारी लोग श्रेष्ठ–सदाचारी मुनियों के मस्तक पर खड़े हो कर खुश हो रहे हैं, एवं समाज में प्रतिष्ठा भी पा रहे हैं, अहहह !!! यह कैसा अनर्थ हो रहा है ? ॥ २२ ॥

'सर्वारम्भ०'—सभी प्रकार के सावद्य व्यापार–धनधान्यादि संग्रहमें–तत्पर गृहस्थ लोग भी यदि पर्व आदि दिनों में एकाशन विगयरहित भोजन आदि का प्रत्याख्यान–नियम लेकर उनके पालन में कदाचित् भूल कर बैठते हैं तो वे भी अत्यन्त अनुताप–पछतावा–करते हैं कि–'शुभ कर्मभागी का प्रत्याख्यान भग्न हो गया' परन्तु ये हीनाचारी लोग छ बार–तीन बार सन्ध्या के प्रतिक्रमण में और तीन बार प्रातःकाल के प्रतिक्रमण में, इस प्रकार छ बार–'त्रिविध–मन वचन काया के तीन योगों से, त्रिधा–करण १, कारण २, अनुमोदन ३, इन तीन कारणों से प्रत्याख्यान करता हूँ' इस प्रकार प्रतिदिन दोनों समय मुंह से बोलकर भी स्वयमेव उसका खण्डन करते हैं। ऐसे हीनाचारी लोग क्या कभी तपस्वी, ज्ञानी या व्रती हो सकते हैं ? कभी भी नहीं। इनमें तप ज्ञान और व्रत का होना तो आकाशकुसुम जैसा ही समझना चाहिये ॥ २३ ॥

'देषार्थ०' इति—देवोद्दयक धन–देवद्रव्य–से अपनी रुचि के अनुकूल, एवं सभी ऋतुओं में सुखप्रद एस मठ बनवाकर उस मठ में सर्वदा रहनेवाले ये हीनाचारी लोग खूब स्वच्छ कोमल रुई स भरे हुए सुन्दर बिछौने पर सोते हैं। इसी प्रकार क गद्दी आदि आसनों एवं मसूरियों–तकियेदार आसनों पर बैठते हैं। ये सर्वदा आरम्भ, परिग्रह और श्रोत्रादि पाँचों इन्द्रियों क विषयों से युक्त, तथा ईर्ष्या और द्रव्यादि की आकाङ्क्षा से सर्वदा आन्दोलित हृदयवाले होकर रहा करते हैं। ऐसे वेषधारी, साधु के वेष में छिपे हुए लम्पट ये हीनाचारी लोग महाव्रतों को भी लाञ्छित कर दिये हैं। इनके द्वारा साधुमार्ग कलङ्कित हो चुका है ॥ २४ ॥

'इत्या०' इति—परतीर्थिक लोग इन हीनाचारियों की सामाचारी को देखकर 'ये लोग साधुवेषमें छिपे हुए लम्पट हैं' इस प्रकार सभी जैनमुनियों के विषय में वे उपहास करते हैं। और इन हीनाचारियों की लीला सुनकर श्रुतमार्ग के अभिमुख हुए लोग भी इस से विमुख हो जाते हैं। इन हीनाचारियों की मिथ्याप्ररूपणा के कारण सम्यग्दृष्टि लोग भी सन्देहयुक्त होने लगते हैं। इस लिये यह निश्चित हुआ कि–ये हीनाचारी चैत्यवासी लोग जिनप्ररूपित सिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध आचरण करनेवाले हैं ॥ २५ ॥

'सर्वे०' इति—चैत्यवासियों द्वारा विहित कुमार्ग को सेवन करनेवाले, इसी कुमार्ग को जिनमार्ग कहनेवाले, तथा अपनी दुराग्रहता से जिनमार्ग का उच्छेदन करनेवाले लोगों के मन को, संसार क समस्त सद्योघाती अत्युत्कट कालकूट विषों के समूहने, संसार के समस्त पापोंने, सभी विषैले सर्पोंने और समस्त कष्ट, आधि–मान सिकव्यथा, व्याधि–रोग तथा दुष्ट ग्रहोंने निश्चय ही क्रूर बना डाला है ॥ २६ ॥ इस कारण से–यही कारण कहते हैं—

'दुर्भेद०' इति—इन हीनाचारी चैत्यवासियों के बुद्धिरूपी नेत्र जो कभी भी नहीं दूर होसकते ऐसे कदाग्रहरूपी अत्यन्त गाढ अन्धकार–पुञ्ज से आच्छादित हैं। ये चैत्यवासी लोग सिद्धान्त क द्वेषी हैं। निरन्तर महामोहनीय कर्म के उपार्जन करते रहने के कारण ये महाअभिमानी हैं। ये स्वयं तो नष्ट हो ही चुके हैं और दूसरों को भी विनाश करनेमें सर्वदा उद्यत हैं। ऐसे जो ये मिथ्याचारवाले चैत्यवासी लोग हैं इन के वचन पर कोई विद्वान् मनुष्य कैसे ध्यान देगा? अर्थात् इन के वचनों को कैसे मानेगा? विद्वान् मनुष्य एसे लोगों क वचन को सुन ही नहीं सकते इस लिये हे शिष्य! तुम भी इन के वचनों को कभी नहीं सुनना ॥ २७ ॥ क्यों कि—

'यस्किञ्चि०' इति—जो एकदम असत्य है, जैसे कि श्रेणिक राजा का रजोहरण को वन्दन करना आदि, तथा जो अत्यन्त अनुचित है, जैसे पिता आदि के उद्देश्य से यात्रा आदि करना, अथवा जिनालयमें लकुटक्रीडा (रासलीला) करना आदि, और जो लौकिक तथा लोकोत्तर दोनों से बाह्य है, जैसे—सूतकवाले घर से भिक्षा लेना, रजस्वलाका जिनेन्द्रपूजन, हीनजातियों को परमेष्ठि मन्त्र पढ़ाना, उन को दीक्षा देना और उनसे जिनेन्द्र की प्रतिमा कराना, तथा जो भव्य प्राणियों के लिये संसार का कारण है, जैसे—जिनमन्दिरमें जलक्रीडा आदि, एवं जो शास्त्राज्ञासे विरुद्ध है, जैसे आधाकर्मिक भोजन आदि, अथवा अधिक श्रावण हो जाय तो अस्सी वें दिन पर्युषणपर्व करना आदि, इन सबोंको ये मूर्ख कुबुद्धि चैत्यवासी लोग धर्म कहते हैं और ये मूर्ख लोग इनको सीपमें चांदी के समान भ्रमसे जिनमतानुसार समझकर स्वयं इनका स्वीकार भी करते हैं। अरे! देखो यह दुरन्त-परिणाममें अहितकर इस असंयतपूजारूप दशम आश्चर्य की कैसी करतूत है!॥ २८॥

'कष्ट' इति—यह अत्यन्त खेद की बात है कि—जन्मसे ही अन्धा और वैदेशिक (यहां का नहीं रहनेवाला) होनेसे मार्ग को अच्छी तरह नहीं जाननेवाला मनुष्य अपनी गर्दन उठाकर दिशा भूले हुए अन्धों को महाभयङ्कर अरण्यमें उनके मन्तव्य नगर का मार्ग दिखला रहा है (१)। इससे भी अधिक खेद की बात यह है कि-जिनकी आँखें अच्छी हैं, जो सुन्दर एवं विघ्न रहित मार्ग को जानते हैं उनको भी वह वैदेशिक अन्धा मनुष्य मार्ग दिखलाने का साहस करता है (२)। तीसरी खेद की बात सबसे अधिक यह है कि—जब वे मार्गज्ञ नेत्रवान् मनुष्य इस वैदेशिक जन्मान्ध की बात नहीं मानते हैं तो वह उनकी इस प्रकार हँसी करता है जैसे किसी मूर्ख की हँसी की जाती है॥ २९॥

'सैषा' इति—जिसमें समय-समय अर्थात् प्रतिसमय भव्य भावों का ह्रास हो रहा है ऐसा हुण्ड संस्थानवाला अवसर्पिणी काल इस समय विद्यमान है (१)। दो हजार वर्ष तक एक राशि पर टिकनेवाला भस्मराशि नामक तीसवाँ क्रूर ग्रह का अधिकार है (२)। और तीसरा असंयति पूजारूप यह प्रत्यक्ष दशवाँ आश्चर्य खूब वेगसे अपना प्रभाव जमा रहा है (३)। ये तीन और चौथा दुष्षमाकाल (४)। ये चारों जिनसिद्धान्त को छत-विक्षत करने के लिये पर्याप्त पट्टपरिकर हैं। ये चारों प्रभु इस समय प्रतिपल-निरन्तर खूब परिपुष्ट हो रहे हैं, ऐसे समय में सर्वोत्कृष्ट विशुद्ध जैन मार्ग अत्यन्त दुर्लभ हो गया है। जब एक शत्रु के रहने पर भी साधुवृद्धि नहीं

होती है तो परिपुष्ट बराबरी के चार शत्रुओं की विद्यमानता में जैनमार्ग की वृद्धि कैसे होसकती है ? ॥ १० ॥

(१०) अब गुणिद्वेषघी नामका दशवां द्वार कहते हैं—

' सम्यग्० ' इति—जो सम्यगमार्ग अर्थात् विशुद्ध मार्ग के पोषक हैं, स्वरूप ही जिनका प्रशम भाव को प्रकट करता है, जिनके नेत्रों में षट्काय जीवों के प्रति करुणा का भाव उमड रहा है, जो विशुद्ध चारित्र के आराधक हैं, जिन्होंने अहङ्कार को मार भगाया है, सूखे हुए घासों के ढेर को जितनी सरलतासे जलाकर राख कर दी जाती है उसी प्रकार जिन्होंने कामको जलाकर राख कर डाला है, जो सर्वदा सिद्धान्तरूपी राजमार्ग पर चलते हैं, उन्मार्ग पर कभी नहीं, तथा जो उपशम भावसे युक्त हैं, एवं विवेकी सज्जन लोग जिनका सर्वदा आदर-सम्मान किया करते हैं ऐसे विद्वान् सत्साधुओं से भी दोषों के भण्डार तीक्ष्ण स्वभाववाले (अत्यन्त क्रोधी) महाशठ ये चैत्यवासी लोग द्वेष किया करते हैं ॥ ११ ॥

अब उनके मिथ्यात्व का वर्णन करते हैं—

' देवीय० ' इति—मिथ्यात्वरूप ग्रहसे ग्रहित (उन्मत्त) मनुष्य इस कालमें दोषों के भण्डार को देव मानते हैं, जिन्होंने बड़े २ दोषों को नष्ट कर डाला है अर्थात् वीतराग देव हैं उनको देवरूपमें स्वीकार नहीं करते हैं। महामूर्खराजों को सर्वज्ञ मानते हैं और सर्वज्ञों को असर्वज्ञ मानते हैं । जैनमार्ग को उन्मार्ग कहते हैं और कुमार्ग को सन्मार्ग कहते हैं। तथा दुर्गुणों के शिरोमणि होते हुए भी अपने को गुणवान् कहते हैं यह सब कितने आश्चर्य की बात है ॥ १२ ॥

' सङ्घ० ' इति—इन हीन आचारवाले चैत्यवासियों को देने के लिए बनवाये गये चैत्यरूप कूट अर्थात् जालमें जो फंसे हुए हैं, इसी हेतु जो अन्तःकरण से छटपटा रहे हैं, परन्तु इन चैत्यवासियों की मुद्रा अर्थात् ' हमारे चैत्य को छोड़कर अन्यत्र मत जाओ ' ऐसी राजाज्ञा(हकूमत)रूप दृढ बन्धन से बन्धे हुए होने के कारण जो जरा भी हिल-डुल नहीं सकते हैं । मुक्ति के लिये जो दान शील तप आदि करते हैं, परन्तु इन हीनाचारियों के सङ्घ की परम्परामें पड़े हुए हैं। ऐसे जो ये दयनीय भव्य प्राणीरूप हरिणों के झुण्ड हैं, उनका हीनाचारियों के सङ्घरूपी व्याघ्र से छुटकारा कहां ? अर्थात् जैसे हरिणसमूह जब व्याघ्रक्रम-व्याघ्रपरम्परामें आजाता है। तब उसका छुटकारा असम्भव हो जाता है । उसी प्रकार इन हीनाचारियों के सङ्घरूप

व्यापक भ्रम (फन्दे) में पड़े हुए भव्यप्राणीरूप हरिणोंका छुटकारा कहां ? अर्थात् उनका मुक्तिगमन कैसे हो सकता है ? ॥ ३३ ॥

'इत्थ' इति—इस पूर्वोक्त प्रकारसे जो मैंने मिथ्या पथ के विषयमें बिलकुल सत्य बात कही है, इसे कोई ऐसा न समझे कि—'इन्होंने परदोषोद्धारनरूप अनुचित कार्य किया है।' अथवा—'इन रागद्वेषात्मक वाक्य से क्या लाभ ?' इस प्रकार मेरे ऊपर कोई सज्जन क्रोध भी न करें। क्योंकि मैंने—इन हीनाचारी चैत्यवासियों द्वारा प्रकल्पित जैनमार्ग के भ्रमसे कुमार्गमें पड़े हुए लोगोंको देखकर उनकी भ्रान्ति को दूर करने के लिये है अर्थात् इन 'बिचारों का क्या होगा ?' इस उद्देश्यसे ही करुण भावसे आक्रान्त हो यह सब कहा है, और इसकी ग्रन्थरूपमें रचना भी की है। इसमें राग, द्वेष अथवा पैशुन्य कारण नहीं है ॥ ३४ ॥

इसमें कारण कहते हैं—

'मोमूले०' इति—जो कोई सज्जन करुणा के वश हो लोगोंमें कहते हुए कुभाव को दूर हटाने की इच्छा से हीनाचारी इन चैत्यवासियों द्वारा प्ररूपित हुए मार्ग के—जो यह मार्ग अनन्त काल से उद्भुत हुआ है अर्थात् जो पहले अनन्त कालमें कभी नहीं था, तथा यह पाप का स्थान है, नाममात्र के वेपसे जो जिनमार्गकी भ्रान्ति को उत्पन्न करता है, वस्तुतः यह जिनमार्ग का घातक है, ऐसा जो यह हुए मार्ग है उसके—दोषों की संख्याको कोई कहना चाह तो मानो वह समुद्रके जलको मापना चाहता है, अथवा पग से समस्त आकाश को लाँघना चाहता है, अर्थात् जैसे समुद्र के जल का मापना, पग से आकाशको लाँघना कठिन है इसी प्रकार इस मार्ग के दोषों का कहना भी कठिन है अर्थात् इस मार्गमें इतने असंख्य दोष हैं कि जिनकी इयत्ता (इतने दोष हैं ऐसी संख्या) हो नहीं सकती ॥ ३५ ॥

अब सत्साधुओं का वर्णन करते हैं—

'न सावद्या०' इति—जो सावद्य आम्नायवाले नहीं हैं, अर्थात् आधाकर्मिक आहारादि का ग्रहण करना जिनकी परम्परामें नहीं है, अर्थात् जो चैत्यवासी नहीं हैं, तथा जो बकुश और कुशीलों की क्रियासे रहित हैं अर्थात् बकुश और कुशीलों की क्रिया का आचरण नहीं करनेवाले हैं। मद ममता और आजीविका के भयसे जो रहित हैं। संक्लेश अर्थात् रौद्र अध्यवसाय जिन्हें नहीं होता है, जो कदाग्रही अर्थात् हठी नहीं हैं। कपटी अर्थात् मायावी भी नहीं हैं। तथा जो सूत्रों—सिद्धान्तों में रुचि

रखनेवाले हैं एसे मुनि लोग तो आज भी इस जगतमें सत्साधु कहलायेंगे ही अर्थात् एसे मुनि को विवेकी जन सत्साधु कहेंगे ही ॥ प्रसङ्ग से यहां बकुश आदिकी व्याख्या की जाती है—

पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ होते हैं-बकुश १, कुशील २, पुलाक ३, निर्गन्थ ४, और स्नातक ५। इनमें बकुश दो प्रकार के होत हैं (१) उपकरणबकुश और (२) देहबकुश। उपकरणबकुश वे कहलाते हैं जो वर्षामें विना आवश्यकता के भी कभी कभी वस्त्रादिको धोते हैं, सुक्ष्मचिक्कण रेशमी वस्त्रों को ग्रहण करने की इच्छा रखते हैं एवं कभी पहिनते भी हैं, पात्र दण्डा आदि को भी तैल माकलन आदिसे चमकदार बनाते हैं, अधिक उपकरणो की भी याचना करते हैं (१)। देह बकुश वे होते हैं जो विना कारण ही हाथ पैर नख आदि को विभूषित-सुशोभित करते रहते हैं (२), दोनों प्रकारके ये बकुश शिष्यादि परिवार आदि विभूतिको तथा तप और पाण्डित्य आदिसे उत्पन्न हुए यशको चाहते हैं और आनन्द मनाते हैं, तथा छेदयोग्य बहुत अतिचारों से शबलित कर्बुरित अर्थात् मलिन होते हुए भी कर्म क्षयके लिए उद्यत रहते हैं, इत्यादि लक्षणवाले होते हैं ॥ १ ॥

कुशील भी दो प्रकार के होते हैं—आसेवनाकुशील और कषायकुशील। जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का किञ्चिन्मात्र आराधन करते हैं वे आसेवनाकुशील हैं। और जो क्रोधादिक भावों के वश होकर ज्ञानादि गुणों की विराधना करते हैं और मूलोत्तर गुणों के विघातक होते हैं वे कषायकुशील हैं ॥ २ ॥ इन पांचो का विस्तृत स्वरूप श्रीभगवतीसूत्र आदि से जान लेवें।

यहां शङ्का होती है कि जब ये शिथिल क्रियावाले हैं, केशों का लोचन करके कैंची से केश काटते हैं, सुन्दर-सुन्दर उपकरण रखते हैं और मूल गुण उत्तर गुण के विघातक हैं तो फिर ये 'निर्ग्रन्थ' शब्दसे कैसे कहे जाते हैं ? इनका स्वरूप किस प्रकारसे है ?, इसका समाधान यह है कि-इनकी पूर्वोक्त क्रियाएँ प्रवाह रूपसे (हमेशां-सर्वदा) नहीं हैं-कभी कभी विशेष कारण को लेकर याचनादि क्रिया करते हैं, और मूलोत्तर गुणों की विराधना मानसिक विराधनाको लेकर है अर्थात् मनसे कभी विराधना कर बैठते हैं, यह यहां सारांश है, किन्तु इनके सदा इन क्रियाओं की कर्तव्यता नहीं है, इस लिये इनको 'निर्ग्रन्थ' शब्दसे कहा है ॥ ११ ॥

अब सत्साधुओं का वर्णन करते हैं—

'संविग्ना०' इति—जो मोक्ष के अभिलाषी हैं, सर्वदा लोगों को धर्मोपदेश देते रहते हैं, आगम के रहस्य को जानते हैं, द्रव्य क्षेत्र काल और भाव को देखकर क्रिया करते हैं, शुद्ध मार्ग-अर्थात् जिनमार्ग को प्रकट करने में सर्वदा सावधान रहते हैं, तथा जिन्होंने मिथ्याप्रवादों को दूर करदिये हैं, एवं जो नियम-अभिग्रह, उपशम, दम-इन्द्रियविजय, औचित्य-योग्यता, गाम्भीर्य, धैर्य, स्थैर्य, औदार्य, आर्यचर्या-सत्पुरुषोचित प्रवृत्ति, विनय-अभ्युत्थानादि, न्याय, दया, धर्मक्रिया, इन में आलस्याभाव-उद्यतपना और सरलता आदि गुणों से पवित्र हैं, एसे जो जिनशासन के सत्साधु हैं वे तो सर्वदा वन्दनीय हैं ॥ ३७ ॥

अब ग्रन्थकार जिन भगवान को वन्दन करते हुए चक्रस्थापनासे स्वनामगर्भित काव्य कहते हैं—

'विभ्राजिष्णु०' इति—अपने अतिशयों से शोभायमान, अहङ्कार एवं कामसे सर्वदा रहित, सिद्धान्त की आज्ञा के उल्लङ्घन का निषेध करनेवाले, केवलज्ञानद्वारा लोकालोक के प्रकाशक होने से सूर्यसमान, श्रेष्ठ शरीर की कान्तिरूप चन्द्रिका के द्वारा चन्द्रमा के समान शीतल कान्तिवाले, असुर नर और इन्द्र से प्रशंसित, पापको नष्ट करनेवाले, दम्भ-(कपट-माया) के लिये शत्रुसमान, विद्वानों को अपनी सुन्दर वाणीद्वारा स्याद्वाद के आनन्दसे आनन्दित करनेवाले, ऐसे जो जिन भगवान हैं उनको मैं वन्दन करता हूं, यह काव्य 'चक्रबन्ध' काव्य है। ग्रन्थकारने इसमें "जिनवल्लभेन गणिनेद चक्रे" (जिनवल्लभगणिने इस को बनाया है) इस वाक्य को अपनी काव्यरचना चातुरी के प्रभावसे काव्यान्तर्गर्भित कर दिया है ॥ ३८ ॥

'जिनपति०'—इति-विषयलोलुप, साधुवेषधारी और भस्मग्रहरूप, म्लेच्छ राज के सैन्यसमान जो ये चैत्यवासी लोग है, इन चैत्यवासियों से इस पञ्चम काल (आरा) के कारण जिनेन्द्र का मतरूप दुर्ग(किल्ला) आक्रान्त हो गया है अर्थात् भस्मक ग्रह के सैन्यरूप इन चैत्यवासियोंने जिनेन्द्र मतरूप दुर्ग पर आक्रमण कर लिया है, इसी लिये इस समय ये लोग अपने वशवर्ती श्रावकों के लिये हमको छोड़कर "अन्यत्र कहीं नहीं जाना" इस प्रकारकी मुद्रा समान अपने गच्छ की मर्यादा को स्वार्थ सिद्धि अर्थात् अपना पेट भरनेके लिये विस्तारित किये हुए है ॥ ३९ ॥

'सम्प्रत्य०'—इति-इस समय-इस पञ्चम आरा में हीनाचारी चैत्यवासियों के समूह का शरीर अप्रतिम अर्थात् अनुपम बलशाली हो रहा है, भस्मग्रहरूप म्लेच्छ

राज के सैन्य दिनानुदिन बढ़ते ही जा रहे हैं। दुष्ट असंयतियों की पूजारूप दशम आश्चर्य प्रतिदिन अधिक से अधिक रूप में प्रतिष्ठित हो रहा है, मोहनीय-कर्मरूपी राजा के वे पूर्वोक्त सैन्य चारों ओर फैलकर अपना अधिकार जमा बैठे हैं। ऐसे समयमें यदि हमारे मुखसे 'सदागम-शुद्धमार्ग' यह शब्द भी निकल जाता है तो मोहनीय कर्मरूपी राजा की आज्ञा में सदा तत्पर रहनेवाले आजकल के लोग हमारी कदर्थना-बेहालात-करडालते हैं ॥ यह संसार नगर है, मोहनीय कर्म इसका राजा है, कुमत इस राजा का सैन्य है, मत्सरग्रह महा-सामन्त-महामन्त्री है, और दुष्ट असंयतियों की पूजारूप दशम आश्चर्य उसका दूसरा सामन्त है ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीजिनवल्लभसूरिविरचित संघपट्टक का
हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ॥
